

प्रकाशक :

आशुतोष शास्त्री,
अनुपम प्रकाशन मन्दिर प्रा० लिमिटेड,
शास्त्री सदन,
खेजड़े का रास्ता, चांदपोल बाजार,
जयपुर—१

मुद्रक :

रमेशचन्द्र अजमेरा,
अजमेरा प्रिंटिंग वर्क्स
धी वालों का रास्ता,
जीहरी बाजार,
जयपुर—३

लघुलेख माला

(सामयिक लेखों का संग्रह)

हीरालाल शास्त्री

१९७०

विद्यार्थी वर्ग के लिये

आज के विद्यार्थी वर्ग पर, लड़कों और लड़कियों पर राष्ट्र के भविष्य का दारोमदार है। कितना अधिक ध्यान विद्यार्थी वर्ग के जीवन निर्माण पर दिया जाना चाहिए और कितना कम ध्यान दिया जा रहा है ! एक सड़ी गली शिक्षा प्रणाली अपनायी हुई है और उसी के अनुसार शिक्षा का प्रसार हो रहा है। जीवन और शिक्षा का कोई सम्बन्ध-समन्वय नहीं है। स्कूल में पहुँच कर बालक अपने घर के जीवन से अलग हो जाता है और स्कूल से निकल कर घर पहुँचने पर वह कोई बाहर का सा व्यक्ति लगता है। जो काम उसके घर में होता आया है उसे सीखने का मौका उसे नहीं मिलता है और उस काम के स्थान में वह साधारण पढ़ना लिखना सीखने के अलावा कोई उत्पादक या उपयोगी काम नहीं सीख पाता है। पढ़ाई समाप्त करने पर उसे नौकरी की त्रोज ही करनी पड़ती है और नौकरी उसे मिलती नहीं है। नौकरियाँ तो नी-गिनी हैं और पढ़ाई पूरी करके स्कूलों और कालेजों से निकलने वालों की ख्या बड़ती जा रही है। स्कूल के विद्यार्थी पर किताबी कार्यभार ज्यादा है, ज़र भी उसके पास करने योग्य पूरा काम साल भर नहीं रहता दिखायी देता

आमुख

मेरे पास पड़ी हुई १९१० से १९७१ तक की कागजी सामग्री को अपनी आत्मकथा “प्रयत्नजीवनशास्त्र” की रचना के सिलसिले में मैंने देखा। उक्त ग्रन्थ के लिए बहुत थोड़ी सामग्री का चयन किया जा सका, तब बची हुई सामग्री की छांट करके दो एक ग्रन्थों में अलग से प्रकाशित करने का मेरा मन होता रहा। परन्तु उस काम के लिए निकट भविष्य में इतना समय निकालना मुझे संभव नहीं जान पड़ा तो फिर मैंने यह छोटी सी “लघुलेख माला” जल्दी छपवा देने का विचार कर लिया।

“लघुलेख माला” में जो लेख छपे हैं वे १९५४-५५ के समय में “नवजीवन सन्देश” साप्ताहिक में प्रकाशित हुए थे। जाहिर है कि लघुलेख माला क्रम से लिखी हुई पुस्तक नहीं है, बल्कि यह विभिन्न विषयों पर समय-समय पर लिखे हुए कुछ लेखों का छोटा सा संग्रह मात्र है। इस संग्रह के तीन हिस्से किये जा सकते हैं, यथा (१) लोक शिक्षण के द्वारा विचार क्रान्ति की आवश्यकता और क्रान्तिवाहक कार्यकर्ता (२) समाज के विभिन्न वर्गों की स्थिति और (३) विनोबाजी का कार्यक्रम।

अपने लेखों को मैंने फिर से पढ़ा तो मुझे ऐसा लगा कि मैं आज लिखने को वैदू तो अधिकतर लेखों की अधिकतर बातें तो ज्यों की त्यों ही लिखने में आजाएँ। पिछले चौदह पन्द्रह सालों में देश में कुछ अच्छा काम हुआ है और समाज के कुछ अंगों को कुछ वाजिव नावाजिव फायदा हुआ है तो उसके मुकाबले में बेहद बिगाड़ खाता भी हुआ है, भलाई को लांघ करके बुराई सीमा के बाहर जा पहुँची है। राष्ट्र में चारित्र्य का और नेतृत्व का संकट छाया हुआ दिखायी देता है।

राजनीतिक दृष्टि से देखें तो पार्टियों का हाल बेहाल हो गया है। पहले एक एक पार्टी के दो दो टुकड़े हुए थे, अब एक एक टुकड़े के ज्यादा

टुकड़े होने की प्रक्रिया जारी है। राजनैतिक पार्टियां प्रारम्भ में किसी हद तक विचारधारा के आधार पर बनती हैं। परन्तु बाद में उनके जो टुकड़े होते हैं वे विचार भेद से कम और व्यक्तिगत मनमुटाव और स्वार्थ की वजह से ज्यादा होते हैं, ऐसा मुझे लगता है। आजकल खुद बने रहने का और दूसरों को गिराने का काम सबसे बड़ा काम हो रहा है।

अपने प्यारे विद्यार्थियों की, नवयुवकों की दशा सबसे अधिक शोचनीय हो रही है। उनकी समस्याओं का हल सोचकर निकालने की फिक्र शायद ही किसी को होगी। बाकी देश की इस महान् शक्ति का अपने अपने मतलब से दुरुपयोग अवश्य किया जा रहा है। मजहब और जाति के आधार पर जो भेद थे वे अभी तक मिट नहीं गये हैं। बल्कि राजनीतिक पार्टियां उन भेदों के द्वारा भी अपना अपना स्वार्थ सिद्ध करने में लगी हुई दिखायी दे रही हैं।

समाज के किसी अंग के लिए कुछ भली बात की जाती है तो उसमें मुख्य दृष्टि यह रहती है कि किस का वोट क्या चीज देने से मिल जायगा। यह सब एक प्रकार का भयंकर भ्रष्टाचार है जिसका कहीं आदि है न अन्त। सत्ताधारियों को अथवा सत्ताकांक्षियों को वोट की रिश्त पट्टेचा कर अपने छोटे मोटे काम करवा लेना मतदाता का और मतदाता को उसके किसी काम के रूप में रिश्त देकर उसका वोट ले लेना राजनीतिक लोगों का काम बन गया है।

पुराने जमाने में राज चलाने वाले सीमित थे और जिनका राज से विशेष काम पड़ता था वे लोग भी सीमित थे। इसलिए भ्रष्टाचार था तब भी वह सीमित था। अब राज चलाने वाले और उनके मर्जीदान असंख्य हो गये हैं और राज जनता के जीवन पर छा रहा है। इसलिए भ्रष्टाचार की भी सीमा नहीं रही और वह ठेठ से ठेठ तक नाना रूपों में फैला हुआ है। आज बेईमानी नियम है तो ईमानदारी अपवाद। तो फिर बेईमानों के बीच ईमानदार की खैर कहाँ ?

जिस वर्ग का (अथवा उस के कुछ लोगों का) कुछ भला सत्ताधारियों

ने कर लिया तो उनकी न केवल जवान बन्द हो गयी, बल्कि वे उपकृत लोग उपकार करने वाले के वकील हो गये । समाज के प्रायः सभी वर्गों में ऐसे तत्व पनप गये हैं और जो विपाल आम जनता वची रह जाती है उसका कोई "धणी धोरी" नहीं है । काम निकलवाना चाहने वाले लोगों का काम ऐसे "नेता नेतियों" के पीछे पीछे भिखमंगों की तरह से चलने का हो गया है । यह दुर्दशा दिल में छेद करने वाली है ।

आखिर यह तमाम भगड़ा समाज के दो तत्वों के बीच का बनता जा रहा है । एक तो वे जिनके पास कम ज्यादा कुछ न कुछ है, दूसरे वे जिनके पास कुछ नहीं है । लोग मजहब की, जाति की दीवारों को तोड़कर अपने-अपने सम्बन्धित खेमों में पहुँच कर रहेंगे । जिनके पास कुछ नहीं है उनका नेतृत्व उन्हीं के बीच रहने वाले उन लोगों के हाथ में चला जायगा जो वास्तव में ईमानदार हैं, जो वास्तव में ही अपने भाइयों का भला करना चाहते हैं और जो जनता का भला करने की खातिर मर मिट सकते हैं ।

अब रही विचारधारा की बात सो विचारधारा कोई सी हो, मुझे हर सूरत में संघर्ष अवश्यम्भावी दिखाई दे रहा है । संघर्ष के बिना, जो कोई कार्यक्रम होगा वह प्रभावहीन होगा । संघर्ष अहिंसात्मक अर्थात् शान्तिमय हो तब तो कहना ही क्या ? परन्तु यदि शान्ति के समर्थक संघर्षात्मक कार्यक्रम को अपना कर प्रभावशाली नहीं बना सकेंगे तो फिर हिंसा और शान्ति का भेद मिट जाएगा जिसको जो रुझेगा वही वह करेगा ।

मुझे लग रहा है कि भूदान, ग्रामदान आदि के अथवा सर्वोदय के कार्यक्रम का जनमानस पर वैसा असर नहीं हो पाया है । जैसा पहले सोचा गया । पूरा राज्यदान हो जाए तब भी क्या ? एक "सुलभ ग्रामदान" नाम की चीज ने और उसके लिए ली जाने वाली कानून की शरण ग्रामदान का प्राण निकाल डाला मालूम होता है । जो अहिंसा या शान्ति को मानते ही नहीं हैं उनकी अहिंसात्मक कार्यवाहियाँ बढ़ती जा रही हैं । शान्तिवालों को इस बढ़ती हुई अशान्ति का मुकाबला शान्ति से करने के लिए दूसरे बड़े (पहले से भी बड़े) गांधीजी को अवतार लेना होगा ।

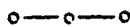
मेरी यह "लघुलेख माला" सर्वसाधारण जनता में चेतना लाने वाली संजीवनी का काम करे, निःस्वार्थ निर्भय मर्द कार्यकर्त्ताओं का उत्साह बढ़ाने वाली हो सत्ताधारियों और सत्तालोलुपों को चेतावनी देने वाली हो, धीमी चाल से चलने वालों की चाल तेज करदे, सन्न रखने वालों की सन्न के बांध में दरार पैदा करदे, यह मेरी कामना है। अपने नये कार्यक्रम को सफल बनाने का मेरा संकल्प है। देखना होगा मुझे किन का कितना सहयोग मिलता है। फिर तो आगे आगे गोरख जागे।

नवजीवन कुटीर, जयपुर

हीरालाल शास्त्री

अक्षय तृतीया सं० २०२७ वि०

८-५-७०



प्रस्तावना

वाङ्मय व पार्टियों का विवेचन

भूमिका

मैंने अपना जो नया कार्यक्रम सोचा है उसका पहला अंग लोकशिक्षण यानी लोगों को दुनिया की, राष्ट्र की, समाज की, विभिन्न विचारधाराओं की, एवं पार्टियों आदि की जानकारी कराना है। इस सिलसिले में मेरे विद्वान साथी प्रो० प्रेमनारायणजी माथुर कई एक लेख लिख रहे हैं। लेखों के तय्यार होने में और छपकर प्रकाशित होने में समय और लगेगा। इसलिए मेरे सोचने में आया कि लेखों के आधार पर साररूप में एक लेख तय्यार करके प्रस्तुत लघुलेखमाला में छाप कर फिलहाल काम चला लिया जाए। मेरे इसी विचार का परिणाम वर्तमान लेख है जो मेरे लेखों की प्रस्तावना के रूप में प्रकाशित किया जा रहा है। इस प्रस्तावना को पढ़ने वाले भाई वहिन प्रो० प्रेमनारायण जी की लेखमाला की वाढ़ उत्कंठा के साथ देखेंगे जिसे जहाँ तक हो सकेगा जल्दी ही छपवा कर जनता के सामने पेश करने में मुझे बड़ी खुशी होगी।

जनतंत्र

अपने देश में आजकल जनतंत्र की (डेमोक्रेसी) की बात बहुत चल रही है। जनतंत्र का मोटे रूप में मतलब है वोट का राज। अर्थात् लोग पंचायतों नगरपालिकाओं, विधान सभाओं और लोक सभा (पार्लियामेंट) में वालिग मताधिकार के आधार पर अपने प्रतिनिधि चुनकर भेजते हैं। हमें यह मालूम है कि चुनावों के चालू तरीके में कई दोष हैं जिससे जनतंत्र के भीतर की भावना मारी जाती है। जनतंत्र एक तरह का जीवनमूल्य है जिसके अनुसार मनुष्य मनुष्य के रूप में स्वीकार किया जाता है। जनतंत्र मनुष्य का वह स्वभाव है जिसके अनुसार आदमी आदमी के बीच आपस में बराबरी का और भाईचारे

का, विनय का और इन्सानियत का व्यवहार होता है। जनतंत्र वह सिद्धान्त है जिसके अनुसार सब नागरिकों को (१) अपने राजनीतिक जीवन में सब प्रकार की आजादी हासिल होनी चाहिए, (२) आर्थिक दृष्टि से मन माफिक काम मिलना चाहिए, जिससे खाने पीने आदि की जरूरतों के पूरी होने में बराबरी का अनुभव हो सके, (३) सामाजिक दृष्टि से वह जिन्दगी जीने को मिलनी चाहिए जिसमें आदमी आदमी में ऊँचनीच का भाव नहीं रहे और सब कामों की समान प्रतिष्ठा हो, (४) संस्कृति की दृष्टि से ऐसी आजादी मिलनी चाहिए जिससे किसी पर किसी का प्रभुत्व न हो और (५) शिक्षा के आयोजन आदि में भी सब तरह से जनतंत्र का आधार देखने को मिलना चाहिए। आज-कल अपने यहां असल में कैसा जनतंत्र है यह हम सब को पता है। आज तो कुछ आजादी का, कुछ वोटों का केवल एक छोटा हिस्सा पाकर बहुमत के नाम पर कोई व्यक्ति चुनाव के अखाड़े में येन केन प्रकारेण जीतकर "भोमिया" बन जाता है और जिस जनता का वह प्रतिनिधि कहलाता है उसका कोई, 'परसां हाल' नहीं होता।

पूँजीवाद

जहां कहीं है वहां पूँजीवादी व्यवस्था जनतंत्र पर आचारित मानी जाती है। पूँजीवादी व्यवस्था का खास मतलब यह है कि किसी एक व्यक्ति को या कई व्यक्तियों को मिलकर पूँजी के जरिये से अपने खुद के फायदे के लिए माल पैदा करने और उसे किसी भी कीमत पर बेचने की आजादी हो। इस व्यवस्था में सारी महिमा टके पैसे की हो जाती है और मनुष्य की कीमत घट जानी है। आमदनी और वन के बँटवारे में असमानता आ जाती है और मनुष्य के द्वारा मनुष्य का शोषण होता है एवं अमीर गरीब का भेद बहुत बढ़ जाता है। समाज के आर्थिक तंत्र का संचालन थोड़े से लोगों के हाथ में हो जाता है और वे ही लोग देश की राजनीति पर भी हावी हो जाते हैं। परन्तु अब पूँजीवाद अपनी सामाजिक जिम्मेदारी को महसूस करता है और अपने इन दोषों के निराकरण का उपाय करने लगा है। पूँजीवाद तेजी-मन्दी और बेकारी पर नियन्त्रण कर रहा है और वह साथ ही किसी हद तक राज्य के कन्ट्रोल को

भी मानने लगा है। पूँजीवाद के दोषों पर से समाजवाद की बात चली थी। पूँजीवाद जिस हद तक अपने दोषों को ठीक कर लेता है उसी हद तक वह समाजवाद के प्रभाव और प्रसार पर रोकथाम लगाने में समर्थ हो जाएगा। पूँजीवाद की व्यक्ति को प्रोत्साहन और अवसर देने की अच्छाई को कायम रखते हुए उसके दोषों से समाज को कैसे मुक्त रखा जाए, यह एक बड़ा सवाल है आज का।

समाजवाद

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है पूँजीवाद के दोषों से समाजवाद के उदय को प्रेरणा मिली है। पूँजीवादी समाज के मुकाबले में समाजवादी समाज वह होता है जिसमें मनुष्य द्वारा मनुष्य का शोषण न हो, जिसमें सबको अपने विकास के लिए समान अवसर मिले, जिसमें आर्थिक सुरक्षा और न्याय के साथ साथ राजनीतिक स्वतंत्रता भी हो। पूँजीवादी समाज में प्रतिस्पर्धा या होड़ की खास बात है तो समाजवादी समाज में सहयोग का सिद्धान्त खास है। समाजवाद में सहयोग के आधार पर ही ऐसे समाज की स्थापना करने की कल्पना है जिससे एक व्यक्ति की उन्नति दूसरे व्यक्ति की उन्नति में रुकावट पैदा न करके उसमें सहायक हो। अमुक समाजवादियों की एक मान्यता के अनुसार उत्पादन के सभी साधनों पर समाज का स्वामित्व होना चाहिए। एक समाजवादी धारा के सामने वर्गविहीन और राज्य विहीन समाज का सिद्धान्त पराकाष्ठा के तौर पर है। पर समाजवादियों में ऐसे लोग भी हैं जो न केवल राज्य के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं, बल्कि राज्य के कार्य क्षेत्र का ज्यादा से ज्यादा विस्तार चाहते हैं, जबकि दूसरे लोग ऐसे हैं जो राज्य के क्षेत्र को मर्यादित रखना चाहते हैं। समाजवादियों में जो विकासवादी या सुधारवादी है वे कारखानों और जमींदारियों पर समाज की प्रतिनिधि संस्था के रूप में राज्य का स्वामित्व या नियंत्रण चाहते हैं—इसी का नाम राष्ट्रीयकरण है। कहना न होगा कि समाजवादी विचार धारा में वह एक रूपता नहीं है जो साधारणतया साम्यवादी विचारधारा में पायी जाती है और एक मजेदार बात यह है कि आजकल पूँजीवाद और समाजवाद कई प्रकार से एक दूसरे के नजदीक आते हुए

दिखायी दे रहे हैं। जहाँ एक तरफ पूँजीवादी समाज में समाजवादी तत्वों का प्रवेश हुआ है और होता जा रहा है वहाँ दूसरी तरफ समाजवादी भी कई पूँजीवादी तत्वों की उपयोगिता अनुभव करने लगे हैं। जब पूँजीवादी समाज समाज व्यवस्था में ऐसे सुधार करने को तैयार हो जाए जिनसे समाज के कमजोर तत्वों का शोषण न हो सके, आमदनी और धन के वँटवारे में समानता लायी जा सके और समाज के सभी अंगों को रोजगार, अच्छे रहन सहन का दर्जा तथा सामाजिक न्याय मिल सके तो फिर समाजवाद एक नारा मात्र रह जाए। कम से कम भारत में तो इस समय समाजवाद एक नारे से ज्यादा शायद ही कुछ है।

साम्यवाद या कम्युनिज़म

साम्यवादी समाजवाद के अन्तर्गत एक खास विचारधारा है जिसके शुरू करने वाले जर्मनी निवासी कार्ल मार्क्स थे। मार्क्स को उनके मित्र एन्जिल्स का अच्छा सहयोग मिला था। बाद में लेनिन ने साम्यवादी विचार धारा का न केवल प्रचार किया, बल्कि उसे आगे भी बढ़ाया। साम्यवादियों की एक खास बात तो यह है कि वे ईश्वर जैसी किसी शक्ति को नहीं मानते; प्रचलित शब्दों में उन्हें नास्तिक कहा जा सकता है। साथ ही साम्यवादी की दूसरी खास बात है उसकी भौतिकवादी दृष्टि की। कम्युनिज़म के हिसाब से समाज में दो वर्ग हैं, एक वर्ग शोषकों का तथा दूसरा वर्ग शोषितों का। और इन दोनों वर्गों के बीच संघर्ष होना अवश्यम्भावी है। संघर्ष के द्वारा ही क्रांति लायी जा सकती है जिसके फलस्वरूप समाज में दो के बजाय एक ही वर्ग रह जाएगा। साम्यवादी राज्य को शोषक वर्ग का प्रतिनिधि मानते आए हैं, इसलिए उनकी आदर्श कल्पना वर्गविहीन के साथ साथ राजविहीन समाज की भी है। हालांकि आजकल व्यवहार में यह देखा जाता है कि कम्युनिस्ट देशों में समाज पर राज्य का नियंत्रण अधिकाधिक बढ़ा हुआ है। कम्युनिस्टों का यह विचार भी लगता है कि क्रांति को लाने वाला संघर्ष अहिंसक न होकर हिंसक ही हो सकता है। वैसे तो साम्यवाद की मूल कल्पना में एक रूपता है, पर उसमें भी सिद्धान्तों का व्यावहारिक अर्थ लगाने की दृष्टि से काफी मतभेद पाया जाता है? साम्यवादी

अखाड़ा दो खेमों में बँट गया है—एक का नेतृत्व रूस के हाथ में है तो दूसरे का चीन के हाथ में है। कम्युनिस्ट दुनिया में युगोस्लाविया जैसा देश भी है जो अपनी तीसरी ही लाइन पर चल रहा है, जो न रूस को मानता है न चीन को। साम्यवादी समाज रचना की कल्पना बहुत सुन्दर कही जा सकती है, पर व्यवहार में देखा जाए तो वैसा नहीं हैं। कम्युनिस्ट क्षेत्र में भले ही मनुष्य भूख और बेकारी से एक बड़ी हद तक मुक्त हुआ होगा, पर वहाँ पर स्वतंत्रता का, निर्भयता का, भौतिकता से आगे बढ़कर आध्यात्मिकता का वातावरण बिल्कुल नहीं दिखाने दे रहा है

सर्वोदय

सर्वोदय विचारधारा के प्रवर्तक गांधीजी थे। आज विनोबाजी सर्वोदय विचार धारा के सर्वमान्य आचार्य हैं। गांधीजी की खास बात यह थी कि उनके सारे अस्तित्व में आस्तिकता रही हुई थी, उनके तमाम सोच विचार में आध्यात्मिकता थी। गांधीजी के सामने सत्य का लक्ष्य था और उनके लिए सत्यप्राप्ति का एकमात्र साधन अहिंसा थी। सर्वोदय जैसी आध्यात्मिक विचार धारा में भेदभाव, स्वार्थ, तेरा मेरा आदि के लिए कोई स्थान नहीं है। खास तौर पर इसलिए कि वह भौतिक आवश्यकताओं को बढ़ावा देने के बजाय यथा शक्य कम करने के सिद्धान्त पर आधारित है दुनियां में जो संघर्ष दिखायी देते हैं उनकी जड़ में स्वार्थ है। संघर्ष को और शोषण, अन्याय, अत्याचार आदि को मिटाने का एकमात्र उपाय यही है कि मनुष्य स्वार्थ का त्याग करें। ईमानदार मनुष्य के लिए सत्य वह तथ्य हैं जो उसके जीवन की अनुभूतियों में प्रकट होता जाता है और मित्रभाव तथा प्रेमपूर्ण व्यवहार का नाम अहिंसा है। गांधीजी सिद्धान्ततः अराजकतावादी थे, पर साथ ही वे व्यवहारिक भी थे। उनकी कल्पना की समाज व्यवस्था हिंसा और शोषण से परे थी जिसमें व्यक्ति की आजादी को आघात नहीं पहुँचे। गांधीजी को पूँजीवाद के दोष मालूम थे और वे राजनीतिक, आर्थिक आदि क्षेत्रों में केन्द्रीकरण के विरोधी थे। गांधीजी की आस्था विकेन्द्रित, कृपिग्रामोद्योग प्रधान व्यवस्था में थी। गांधीजी ऐसी राज्य व्यवस्था चाहते थे जिसमें स्थानीय शासन जैसे ग्राम-

पंचायत, नगरपालिका आदि का महत्वपूर्ण स्थान हो, राज्य की इच्छा पर उनका अस्तित्व और कार्यक्षेत्र निर्भर नहीं हो, स्थानीय महत्व के तमाम काम उनके पास हों। गांधीजी बड़े पैमाने के उद्योगों के विरुद्ध नहीं थे, उनको ऐसे आवश्यक उद्योग स्वीकार थे, बशर्त कि उन उद्योगों का नियंत्रण किन्हीं व्यक्तियों के हाथ में उन्हीं के लाभ के लिए न हो। गांधीजी विज्ञान और मशीन के विरोधी भी नहीं थे, वे केवल उनके दुरुपयोग के विरुद्ध थे। गांधीजी अच्छे साध्य की सिद्धि के लिए अच्छे साधन को अनिवार्य मानते थे। सर्वोदय के मूल में बिना भेदभाव के सबके उदय की, सबके भले की बात है।

भारत की राजनीतिक पार्टियाँ

भारत की पराधीनता के जमाने में एक मात्र कांग्रेस ही अखिल-भारतीय राष्ट्रीय महासभा थी जो सारे राष्ट्र का प्रतिनिधित्व करती थी। मुस्लिम लीग ने हमारे मुसलमान भाइयों को न जाने किस प्रभाव में आकर कांग्रेस के विरुद्ध खड़ा किया था जिसका नतीजा यह आया कि देश के टुकड़े हो गये। स्वराज के बाद महान् कांग्रेस ने एक राजनीतिक पार्टी का रूप ले लिया। पार्टी "पार्ट" यानी हिस्से से बनती है, इसलिए कांग्रेस भी तमाम की न होकर तमाम के एक हिस्से की हो गयी। आज देश में जो राजनीतिक पार्टियाँ हैं उनमें से बहुतों का अलग अस्तित्व किसी विचारधारा या सिद्धान्त पर आधारित नहीं लगता है। पार्टियों के टुकड़े हो गये उसमें भी सिद्धान्त की कोई बात दिखाई नहीं देती है। कांग्रेस के दोनों टुकड़ों में, प्रजासमाजवादी पार्टी में, संयुक्त समाजवादी पार्टी में और भारतीय क्रान्ति दल में भी कोई बड़ा मौलिक भेद नहीं लगता है। ये सभी जनतांत्रिक समाजवाद की बात करते हैं। जो भगड़ा है वह सत्ता के लिए नेताओं का भगड़ा है। स्वतंत्र पार्टी ज्यादातर ऐसी अर्थव्यवस्था चाहती है जिस पर राज्य का कम से कम नियंत्रण हो। आपसी भगड़ा पार्टी में घुस गया है। और कम्युनिस्ट पार्टी के तो अब अनेक रूप हो गये हैं। एक वह कम्युनिस्ट पार्टी है जो रूस को मानती है, दूसरी वह है जो चीन की ओर झुकी है और तीसरी वह है जो चीन को अपना मार्गदर्शक समझती है। कम्युनिस्ट पार्टियाँ भी देश में समाजवाद लाना

चाहती हैं, पर उनका वह समाजवाद रूस अथवा चीन के समाजवाद के नमूनों का होगा। और एक कम्युनिस्ट पार्टी में कुछ कम, दूसरी में कुछ ज्यादा और तीसरी में बहुत ज्यादा हिंसा की बात है। जनसंघ वह पार्टी है जो कांग्रेस की मुसलमानों को इतना ज्यादा खुश करने की नीति को नापसन्द करती है। जनसंघ भारत राष्ट्र में हिन्दुओं की प्रमुखता चाहता है और वह भारतीय संस्कृति की बुनियाद हिन्दूशास्त्रों और हिन्दू जीवन के मूल्यों में मानता है। जनसंघ की आर्थिक विचारधारा समाजवाद से विशेष मेल खाती हुई नहीं लगती है। इन पार्टियों में से किसी को वामपंथी, किसी को दक्षिण पंथी और किसी को मध्यमार्गी समझा और कहा जाता है। उक्त पार्टियों के अलावा डी० एम० के०, अकाली पार्टी आदि प्रादेशिक पार्टियां भी हैं। मुस्लिम लीग भी फिर से उठती दिखायी दे रही है।

उपसंहार

इन पार्टियों के भ्रमेले में देश का राजनीतिक जीवन अस्त व्यस्त हो रहा है विचारधारा और सिद्धान्त की बात तो कहने भर के लिए मालूम होती है। बाकी सबसे बड़ी प्रेरक शक्ति है सत्तालिप्सा। राजनीतिक आचारण का स्तर नीचे गिरता गिरता पाताल तक पहुँच गया है। राजनीतिक पार्टियों में जब तक मूलभूत ईमानदारी न हो, उनके सामने जब तक निःस्वार्थ भाव से राष्ट्र सेवा की भावना न हो तब तक किसी भी विचारधारा की कोई खास कीमत नहीं हो सकती। भारतीय राष्ट्र के सामने खास सवाल इस या उस विचारधारा का उतना नहीं है, इस या उस नारे का विल्कुल नहीं है, बल्कि राष्ट्र हित के लिए डटकर परिश्रम करने का है।

नवजीवन कुटीर, जयपुर

हीरालाल शास्त्री

दुर्गा अष्टमी, आश्विन सं० २०२७ वि०

८-१०-७०

प्रकाशक की ओर से

आदित्य ग्रन्थमाला का प्रथम पुष्प पंडित हीरालाल शास्त्री की आत्म-कथा 'प्रत्यक्षजीवन शास्त्र' अगस्त १९७० में तैयार हो गया था ।-उसे पाठकों और प्राहकों के लिए अब उपलब्ध किया जा रहा है । 'शास्त्र का मूल्य २५) रु० है ।

पंडित हीरालाल शास्त्री ने आज से १५-१६ वर्ष पूर्व अनेक सामयिक लेख लिखे थे जो कि जयपुर से प्रकाशित साप्ताहिक नवजीवन सन्देश में प्रकाशित हुए थे । देश की राजनैतिक और सार्वजनिक परिस्थिति में आज भी कोई तात्त्विक अन्तर नहीं आया है । उस समय लिखे गए बहुत से लेखों में से कुछ लेख आदित्य ग्रन्थ-माला के द्वितीय पुष्प के रूप में 'लघु लेख माला' के नाम से प्रस्तुत हैं ।

हमें विश्वास है कि इस उपयोगी पुस्तक का सभी क्षेत्रों में स्वागत होगा ।

तथा दशमी, २०२७ वि०

आशुतोष शास्त्री

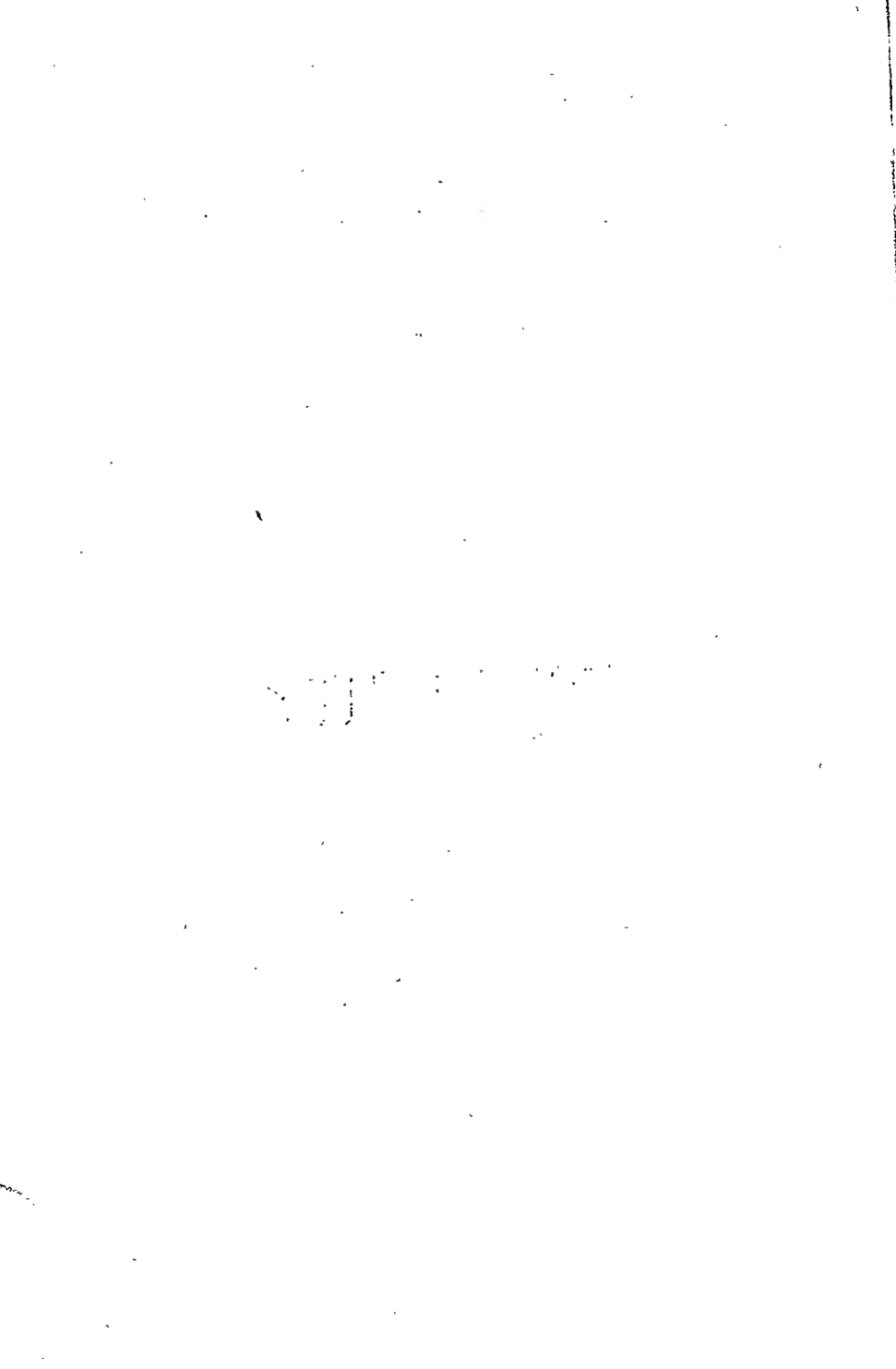
अक्टूबर, १९७०

अनुक्रमणिका

क्रम	विषय	पृष्ठ
१ (क)	लोकशिक्षण की आवश्यकता	१
(ख)	विचार क्रांति की अनिवार्यता	५
२ (क)	बुराई का मुकाबला	६
(ख)	ईमानदारी का आग्रह	१३
३ (क)	राजनैतिक कार्यक्रम का प्रश्न	१७
(ख)	आन्दोलन-संघर्ष आवश्यक-भावी	२३
४ (क)	सार्वजनिक कार्यकर्ता की कसौटी	२७
(ख)	कार्यकर्ताओं के निर्वाह के विषय में	३२
(ग)	आर्थिक साधनों का सवाल	३६
५	जनता के लिए	४०
६	स्त्री समाज में नवजीवन	४३
७	विद्यार्थी वर्ग के लिये	४८
८	किसान मजदूर और मध्यम वर्ग	५२
९	अल्पसंख्यकों के विषय में	५६
१०	हरिजनों के विषय में	६०
११	राजपूतों के लिये	६४
२१	ब्राह्मण-वनियों के विषय में	६८
१३	शिक्षक, साहित्यिक, कलाकार, चिकित्सक, वकील आदि	७२
१४	पूजापतियों व उद्योगपतियों के विषय में	७६

१५ (क) प्रवासी राजस्थानी	८०
(ख) प्रवासी राजस्थानी	८४
(ग) प्रवासी राजस्थानी	८८
(घ) प्रवासी राजस्थानी	९२
१६ (क) विनोबाजी के साथ	९६
(ख) विनोबाजी के साथ	१००
(ग) विनोबाजी के साथ	१०५
१७ विनोबाजी का कार्यक्रम	१०९
१८ सर्वोदय सिद्धान्त का व्यावहारिक रूप	११७
१९ साम्यवाद का विश्लेषण	१२१
२० पाप और दोष	१२५
२१ समाज सेवी कार्यकर्ताओं का निर्वाह	१३०
२२ भूमिदान कार्यक्रम का तत्व	१३४
२३ जीवन दान	१३९
२४ कठिनाइयों की कल्पना	१४१
२५ (क) सर्वोदय का सघन कार्यक्रम	१४७
(ख) सर्वोदय का सघन कार्यक्रम	१५१

लघुलेख माला



१ (क)

लोकशिक्षण की आवश्यकता

नवजीवन कुटीर की ओर से जो त्रिविध कार्यक्रम उपस्थित किया गया है उसका एक अंग प्रचारात्मक-शिक्षणात्मक कार्य है। यह बात बार बार अनुभव में आयी हुई है कि अपने यहां जानने योग्य विभिन्न विषयों की पूरी और सही जानकारी लोगों के पास नहीं है। यहां तक कि सालों से सार्वजनिक क्षेत्र में काम करने वाले लोग भी आवश्यक विषयों के जानकार नहीं हैं। अपने देश का प्राचीन मध्यकालीन और अर्वाचीन इतिहास, कई एक दूसरे देशों में समय-समय पर होने वाली क्रान्तियों का हाल, विभिन्न वादों का तुलनात्मक विवरण, विभिन्न दलों के मन्तव्यों का व्यौरा, खास खास देशों में व्याप्त वर्तमान सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक स्थितियां आदि ऐसे विषय हैं जिनकी अधिकृत जानकारी न केवल कार्यकर्त्ता को बल्कि औसत नागरिक को भी होनी चाहिए। ज्ञान में शक्ति मानी गयी है और ज्ञान के अभाव में अन्धकार छाया हुआ रहता है और आगे का रास्ता दिखायी नहीं देता और ऐसी हालत में आगे बढ़ने में रुकावट पैदा होती है। दुर्भाग्य से कालेजों में शिक्षा पाये हुए युवकों को भी इस प्रकार जानकारी प्राप्त करने का साधारणतया समुचित अवसर नहीं मिलता है।

प्राचीन भारत की शासन व्यवस्था कैसी थी? भारतीय इतिहास में अशोक का क्या स्थान है? मध्यकाल में अकबर ने क्या किया? अंग्रेजी शासन काल के गुण दोष क्या थे? १८५७ के भारतीय स्वातंत्र्य युद्ध का क्या महत्व था? गांधी जी के नेतृत्व में चलने वाली भारत के शान्तिपूर्ण स्वाधीनता युद्ध का संसार के लिए क्या महत्व है? भारत के विभाजन का क्या असर हुआ? विभाजन न माना जाता तो क्या होता? स्वराज के बाद देश की कैसी स्थिति है? उस स्थिति का आज के जमाने में भारतीय प्रतिभा के अनुकूल क्या इलाज हो सकता है? भारतीय पंचवर्षीय योजन का क्या फलफल हो सकता है? विनोबाजी के भूदान आन्दोलन की क्या-क्या सम्भावनाएं मानी जा सकती हैं? गांधीवाद या सर्वोदयवाद का क्या स्वरूप है? साम्यवाद का स्वरूप क्या है? समाजवाद क्या है? नाजीवाद क्या था? जिसे सम्प्रदायवाद कहा जाता है उसका सही रूप क्या है? भारत के विभिन्न दलों के चुनाव घोषणा पत्रों में क्या-क्या कहा गया था? घोषणा पत्र की बातों का व्यवहार में कैसा क्या निर्वाह हो रहा है? भारत के संविधान की मुख्य बातें क्या हैं? अपने यहां की चुनाव पद्धति के गुण दोष क्या हैं? फ्रांस की राज्यक्रान्ति कैसे हुई थी? जर्मनी में बिस्मार्क ने क्या किया था? इटली में गैरीवाल्डी और मेजिनी की ओर से क्या हुआ? इंग्लैंड की व्यावसायिक क्रांति का क्या स्वरूप और क्या महत्व था? आयरलैंड के स्वातंत्र्य युद्ध की क्या विशेषता थी? रूस की १९१७ की क्रांति किन परिस्थितियों में हुई थी? टर्की का कायापलट कैसे हुआ था? जापान का उत्कर्ष कैसे हुआ था? चीन की विस्मयकारक क्रांति कैसे सम्भव हुई? और आजकल अमेरिका की स्थिति क्या है? और रूस की स्थिति कैसी है? इन दोनों में भगड़ा किस बात का है? दूसरे महायुद्ध के बाद अब इंग्लैंड की, फ्रांस की, और जर्मनी की स्थिति क्या है? स्वीडन, नार्वे, डेनमार्क, स्विटजरलैंड जैसे राज्यों की स्थिति क्यों ठीक मानी जाती है? तीसरा महायुद्ध होने की कैसी क्या सम्भावना है? पाकिस्तान की स्थिति कैसी है? विज्ञान के बड़े-बड़े आविष्कारों से दुनियां की स्थिति में क्या परिवर्तन हो गये हैं?

प्रश्नों की यह कोई पूरी सूची नहीं है। जो प्रश्न मुझे सूझते गये उनका उल्लेख मैंने किसी न किसी रूप में कर दिया है। इन और ऐसे दूसरे प्रश्नों के सही-सही उत्तर नागरिकों को मालूम होने चाहिए। और मुझे लगता है कि बहुत कम लोग ऐसी स्थिति में होंगे कि इनमें से ज्यादातर प्रश्नों के संतोषजनक उत्तर दे सकें। और मैं यह भी महसूस करता हूँ कि देश में नया चैतन्य नयी स्फूर्ति लाने के लिए कुछ दूसरी बातों के अलावा इस प्रकार की जानकारी के प्रसार की भी बड़ी आवश्यकता है।

दैनिक, साप्ताहिक व मासिक पत्रों के द्वारा उपर्युक्त विषयों की जानकारी पाठकों को किसी हद तक होती रहती है। कुछ पत्र ऐसे हो सकते हैं जिनके द्वारा ऐसी जानकारी देने का विशेष प्रयत्न किया जा सके। ऐसी आवश्यक जानकारी के लिए पुस्तकों की सहायता भी ली जानी चाहिए। मेरी कल्पना है कि लगभग सौ पुस्तकों से बहुत अच्छा काम चल जाना चाहिए। उन सौ पुस्तकों में से पचास और पच्चीस पुस्तकों की छांट भी की जा सकती है, तीसरे दो-दो चार-चार आठ-आठ पृष्ठों की एक-एक प्रश्न को लेकर पत्रिकाएं तैयार करवा कर प्रकाशित की जायं जिनका संग्रह होने पर ऐसे ज्ञान की एक पंजिका हो जायगी। नवजीवन कुटीर की ओर से यह सब आयोजन करने का विचार है और इस काम के लिए सर्वत्र नवजीवन केन्द्रों की स्थापना करने की योजना है। नवजीवन केन्द्र की विशेषता उसकी चेतन भावना और स्फूर्ति होनी चाहिए। जो तीन, चार, पांच कार्यकर्त्ता केन्द्रों को चलाने का जिम्मा लें उन्हें परिश्रम के साथ खुद को तयार करना चाहिए और पूरी लगन से दूसरे को भी प्रवृत्त करना चाहिए। स्वयं पढ़ना, दूसरों की सहायता लेकर शंकाओं का समाधान करना, आपस में वहस मुवाहिसा करना—इसी प्रकार वैज्ञानिक रीति से सब विषयों को जानना होगा। जानकारी के बाद किन को कौनसा विषय, कौनसा कार्य सबसे ज्यादा पसन्द आयेगा सो कुछ तो अपने आप होता रहेगा और कुछ दिशा नवजीवन कुटीर की तरफ से भी बतायी जा सकेगी।

केन्द्रों में लोकशिक्षण-प्रचार के अलावा रचनात्मक सेवात्मक और आन्दोलनात्मक संघर्षात्मक कार्य भी यथाशक्ति चलाने की बात है जिससे सम्बन्धित लोगों का ज्ञान व्यवहार के द्वारा निखर जायगा । इस कल्पना को मूर्तरूप देते-देते जो स्वरूप बनेगा उसके अनुसार काम होता जायगा । और काम करते-करते प्राप्त होने वाले अनुभव के आधार पर आगे का मार्ग प्रशस्त होता जायगा ।

१ (ख)

विचारक्रान्ति की अनिवार्यता

किसी देश में या समाज में कोई बहुत बड़ा परिवर्तन होने वाला होगा तो उसके पहले जनता के विचारों में उसी के अनुकूल परिवर्तन का होना अनिवार्य होगा। भारत में अंग्रेजी राज की जड़ें बहुत मजबूत मालूम होती थीं और यह कल्पना करना मुश्किल था कि किस प्रकार और कब उस राज का अन्त होगा। १८५७ के बाद तो अंग्रेजों ने अपने राज को पक्के पाये पर मजबूत बना लिया था। पहले कुछ लोगों में भावना पैदा हुई कि अंग्रेजी शासकों से देश की जनता के हक में कुछ कहा जाय। वही भावना फैलती गयी और आगे बढ़ती गयी। समय पाकर उस भावना ने यह रूप ले लिया कि अंग्रेज विदेशियों का हमारे देश पर शासन करने का कोई हक नहीं है और स्वराज हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है। परन्तु इस भावना ने अधिक जोर पकड़ लिया था तब भी देश में ऐसे लोगों की कमी नहीं थी जो अंग्रेजी राज से फायदा उठाते थे और जो स्वराज आन्दोलन के समर्थक-सहायक होने के बजाय उसके विरोधी थे। ऐसे लोगों की प्रतिष्ठा भी बहुत थी और उनके पास साधनों की प्रचुरता भी थी। परन्तु जब लोगों में विचार क्रान्ति का प्रसार हुआ तो वैसे लोगों की प्रतिष्ठा और उनके साधन अंग्रेजों के लिए

वेकार साबित हो गये। बल्कि जब उन लोगों ने देखा कि अंग्रेजी राज का अन्त हो जाना सम्भव है तो वे धीरे-धीरे और चुपके-चुपके अंग्रेजी राज को समाप्त करने की कोशिश करने वालों की मदद करने लग गये। तब भी देशवासियों की सहसा इतनी शक्ति नहीं दिखायी देती थी कि वह अंग्रेजों को देश से विदा कर दे और आन्दोलन भी कभी-कभी जोर पकड़ कर वाद में एकदम ठंडे पड़ जाते थे। पर भीतर ही भीतर जनता का मानस बदल रहा था और उसके बदलते-बदलते ऐसी स्थिति बन गयी थी कि आम तौर से यह समझा और कहा जाने लगा कि अंग्रेजों को इस देश में नहीं रहना है और उन्हें जाना है। आखिर 'भारत छोड़ो' का नारा बुलन्द किया गया। साधारणतया स्वराज आन्दोलन शान्तिमय रहा, पर आम जनता ने और वास्तव में तो खास-खास लोगों ने भी अहिंसा का भाव अपना लिया हो तो बात नहीं थी। जो कुछ हो, देश में विचार क्रान्ति हो गयी थी। दूसरी ओर अंग्रेजों ने समझ लिया कि देश की बदलती हुई हालत में उस पर कब्जा कायम नहीं रख सकेंगे और उनके घर के हालात भी दूसरे महायुद्ध के परिणामस्वरूप कमजोर पड़ गये थे। स्वराज आन्दोलन ने अपना असर जरूर किया था। पर अंग्रेजों की खुद की मजदूरी ने उनसे भारत जल्दी छोड़वा दिया। यह भी मानना पड़ेगा कि अंग्रेज अपेक्षाकृत भले और समझदार थे। शासकों की हैसियत से वे बहुत ज्यादा क्रूर हो सकते थे और वे 'अहिंसक' आन्दोलन को भी बहुत कड़ी कसौटी पर चढ़ा सकते थे। वैसा होता तो कौन जाने क्या होता। पर जो हुआ सो यह हुआ कि हम लोगों को स्वराज की कोई ज्यादा मंहगी कीमत नहीं चुकानी पड़ी।

अंग्रेजों ने राजी खुशी राज छोड़ दिया और भारतीयों को राजगद्दी पर बिठा दिया। इसे एक ओर हमारी अहिंसा का चमत्कार समझा जाता है, तो दूसरी ओर इसके सम्बन्ध में यह सोचा जाता है कि इस प्रकार अधिकार परिवर्तन हो जाने के कारण देश में सच्ची क्रान्ति नहीं हुई, बल्कि वह क्रान्ति आगे खिसक गयी। यह दूसरी बात ज्यादा सही मालूम होती है। जो ढांचा अंग्रेजों का बनाया हुआ था उसीको हमने अपना लिया और न उनके

सिंहासन पर हम ज्यों के त्यों विराजमान हो गये। जिस विचार-क्रान्ति ने अंग्रेजों को हटवाने में मदद पहुंचायी थी वह एक बार शिथिल पड़ गयी। लोगों ने स्वराज से बड़ी आशाएं बना रखी थीं। इसलिए वे उन आशाओं की पूर्ति का इन्तजार करने लगे। जनता को जल्दी ही पता लग गया कि उसकी आशाएं स्वराज में पूरी नहीं हो रही हैं। स्वराज के सूत्रधार लोग मानते मालूम होते हैं कि वे देश में वीरे-वीरे सामाजिक-आर्थिक क्रांति ला रहे हैं और वह भी अपने अनूठे तरीके से। पर आम जनता की ऐसी मान्यता नहीं मालूम होती है। जनता को जल्दी से कोई दूसरा पक्ष आगे बढ़ता हुआ नहीं दिखायी देता है और उसे लगता है कि अभी अमुक समय तक तो वर्तमान सत्ता ही कायम रहेगी। फिर भी वर्तमान सत्ता के प्रति जनता की श्रद्धा नहीं दिखायी दे रही है। उल्टे, अधिकतर स्थानों में तो जनमानस में सत्ता के प्रति एक प्रकार की ग्लानि मालूम पड़ रही है। लोगों को प्रशासन की शिथिलता अखरती है और दूसरी बुराइयों से वे नफरत करते हैं। सत्ता की ओर से जनता के हित की दृष्टि से कई प्रकार के प्रयत्न होते दिखायी दे रहे हैं, पर लगता ऐसा है कि उन प्रयत्नों का जनता के हृदय पर कोई खास असर पैदा नहीं हो रहा है। वहरहाल हम यह नहीं देख पा रहे हैं कि जनता अपनी शक्ति को पहिचानती हुई एक दिल होकर उठ रही है या प्राप्त स्वराज का उपयोग करना उसे मिल रहा है। प्रेक्षकों को समाज का नक्शा बदलता हुआ नजर नहीं आ रहा है और उन्हें तो यह लगता है कि सत्ता किसी विदेशी नमूने का अनुकरण करती हुई पूंजीवाद से चिपकी हुई रहना चाहती है, बात भले ही वह समाजवाद की करती होगी।

यही परिस्थिति है जो एक या दूसरे प्रकार की सामाजिक-आर्थिक क्रांति के लिए नयी विचारक्रान्ति का द्वार खोल रही है। यह कहना कुछ मुश्किल है कि क्रमशः कौनसी विचार क्रांति जनता के दिल पर अधिकार कर पायेगी। एक ओर समाज में कुछ लोग साधन सम्पन्न हैं और उन साधनों का उपयोग वे अपने व्यक्तिगत लाभ के लिए कर रहे हैं तथा दूसरी ओर साधनहीन लोग अपने उचित लाभ से भी वंचित रखे जा रहे हैं। इन

दोनों दलों में भगड़ा होना अनिवार्य माना जाता है और बताया जाता है कि साधनहीन लोगों को येन केन प्रकारेण अपने प्रतिद्वन्द्वियों के जोर को समाप्त कर देना चाहिए। उत्पादन के तमाम साधनों पर से व्यक्तिगत स्वामित्व उठ जाना चाहिए और उन साधनों का लाभ आज के साधनहीनों को मिलना चाहिए। दूसरी विचारधारा के अनुसार भी व्यक्तियों के पास उत्पादन के बड़े साधन तो नहीं होने चाहिए, पर उस विचारधारा की खास बात एक प्रकार के स्थानीय स्वावलम्बन की है। समाज से शुरू करके व्यक्ति की ओर आने के बजाय वह विचारधारा व्यक्ति से शुरू करके समाज की ओर जाना चाहती है। व्यक्ति अर्थात् परिवार के पास से जो अधिकार बच जाय वे गांव में जाय और फिर राष्ट्र में। इसके खिलाफ विचार यह है कि पहले राष्ट्र के अधिकार हों, फिर वे उतरते-उतरते व्यक्ति तक पहुंचें। एक में व्यक्ति की और उसके स्वतंत्र विकास की मुख्यता है तो दूसरी में समाज के हित के लिए व्यक्ति की शक्तियों का बलिदान होने की बात खास समझी जा सकती है। एक में मानव की मूलभूत भलाई का भरोसा करते हुए हृदय परिवर्तन की और स्वेच्छा से अनुशासन कायम रखने की बात है तो दूसरी में विरोधी वर्गों के भगड़े की और दंड के द्वारा अनुशासन को पक्का करने की बात है। दोनों ही विचारधाराएं वर्तमान सत्ता की प्रणाली के विरुद्ध हैं और दोनों को ही उससे कोई आशा नहीं है। पर एक विचारधारा वालों को खयाल होता है कि दूसरी विचारधारा के द्वारा प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में वर्तमान सत्ता का समर्थन हो जाता है और इसलिए वह आने वाली क्रान्ति के मार्ग में बाधक सिद्ध होने वाली है। दूसरी विचारधारा के अनुसार पहली विचारधारा का जोर ज़रूर से सब कुछ कर डालने का तरीका व्यक्ति को दासता में जकड़ने वाला सिद्ध होगा और इसलिए वर्तमान स्थिति की अपेक्षा कोई अच्छी सूरत पैदा नहीं करेगा। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है उक्त दोनों धाराओं में से जनता किसे अपनायेगी, यह बताना मुश्किल है। पर एक बात पक्की है कि जनमानस में विचार की क्रान्ति होना चाह रही है और वह क्रान्ति ऐसी हो या वैसी, पर जो वास्तविक क्रान्ति समाज के ढाँचे में होने वाली है उसके पुरोगामी रूप के तौर पर उस विचार क्रान्ति का होना अनिवार्य है।

२ (क)

बुराई का मुकाबला

भलाई-बुराई का भगड़ा सनातन है। जो लोग कम-से कम बातों को जानने वाले माने जा सकते हैं, वे भी अपनी दृष्टि से जानते हैं कि भली बात कौनसी है और बुरी बात कौन सी। भली बात को न करने का और बुरी बात को करने का यह कारण कम मौकों पर होता है कि करने वाले के पास भलाई और बुराई की पहिचान नहीं है। भली बात को जानते हुए भी नहीं करते हैं और जानते हुए भी बुरी बात को करते हैं। किसी के पास बहुत अधिक मात्रा में भलाई हो तो उस हालत में भी उसके साथ लगी हुई थोड़ी बहुत बुराई हो सकती है, या कम से कम दूसरे देखने वाले उस व्यक्ति में बुराई देख सकते हैं और बता सकते हैं। वैसे ही बहुत से बुरे व्यक्ति में भी भलाई का कुछ न कुछ अंश हो सकता है। एक ओर राम और कृष्ण के तथा दूसरी ओर रावण और कंस के और इसी प्रकार सीता और कौकिली के एवं युधिष्ठिर और दुर्योधन के उदाहरण विचार करने योग्य हैं। भलाई-बुराई सच-भूठ, उजाला-अन्धेरा, न्याय-अन्याय, जीवन-मृत्यु, ये सब द्वन्द्व हमारे सामने हैं और इनका संघर्ष सदा से चलता आया है, और उसे ही शायद देवासुर-संग्राम कह सकते हैं।

आजकल ऐसा लगता है जैसे बुराई चारों ओर व्याप्त हो रही है और भलाई उसके नीचे न जाने कहाँ दबी हुई पड़ी हो। शक्तिशाली राष्ट्र बात करते हैं शान्ति की, तैयारी करते रहते हैं युद्ध की। ये ऐलान करते हैं कमजोर राष्ट्रों की सहायता करने की और नीयत रखते हैं और योजना बनाते हैं उन्हें हड़प जाने की या उनमें अपना प्रभुत्व जमाने की या कम से कम किसी प्रतिपक्षी को वहाँ न जमाने देने की। समाज के शक्तिशाली और साधन सम्पन्न लोग बात करते रहते हैं निर्वलों के उपकार की और वास्तव में लगे रहते हैं उनके शोषण में। पार्टियों के आधार पर चलने वाली जनतांत्रिक व्यवस्था में सत्ताधारी पार्टी की घोषणा होती है राष्ट्र को समुन्नत और समृद्ध बनाने की और उसका प्रयत्न होता है किसी भी तरीके से अपनी सत्ता को बनाये रखने का। सत्ताधारी पार्टी के लोग अपनी निजी बह्वृद्धी और पार्टी की कामयाबी के लिए सार्वजनिक धन व अन्य साधनों का काफी दुरुपयोग करते हैं। शक्ति सम्पन्न नेता कहते रहते हैं अमुक प्रकार के प्रदर्शन नहीं होने चाहिए और वे खुश होते हैं उन प्रदर्शनों में ही। वे ईमानदारों की खोज करने का दिखावा करते हैं और अपनी किसी गर्ज से वे अपनाते हैं उन्हें जिनका ईमानदारी से कोई वास्ता ही नहीं होता। आम तौर से वकील लोग अपने मुकदमों में और उनकी शहादत में सच झूठ की उतनी परवाह करते हुए नहीं मालुम होते हैं। चिकित्सा विभाग के किन्हीं लोगों के बारे में सुना गया कि वे इन्जेक्शन की असली चीज को निकाल कर बेच देते हैं और उसकी जगह पानी या कुछ भी भर देते हैं। अध्यापकों के बारे में भी यह सुना जाता है कि उनमें से कई लोग पैसे की एवज में फेल को पास और किसी नाराजी के कारण पास को फेल कर देते हैं या करवा देते हैं। कन्ट्रोल, परमिट, लाइसेंस के मामलों में कितना दुराचार फैल सकता है इस को हम लोग खूब देख चुके हैं। खाने पीने की चीजों में बेहद मिलावट की जा रही है। जुआ, चोरी, डाका, जेब काटना आदि काम करने वाले तो करते ही हैं पर उन लोगों से अनुचित लाभ उठाने वाले कितने ही समर्थ लोग मौजूद हैं जिनकी कृपा और सहायता से ये सब काम किये जा सकते हैं। रिश्वत लेने वाले लेते ही हैं, पर उनके भीतरी समर्थन के लिए उनसे बड़े उनसे मिले हुए रहते हैं, और वे

प्राप्त धन का अपना हिस्सा पाने के हकदार होते हैं। जनता की सेवा के नाम पर कमा खाने वालों की कमी नहीं है, और सेवक का बाना पहनने वाले बहुत से लोग रिश्वत की दलाली का खोटा धन्धा करते हैं। मौजूदा चुनाव पद्धति से भूठ व वेईमानी और नाना प्रकार की रिश्वत को बड़ा समर्थन मिला है। चुनाव में जीतने के लिए साधन और सत्ता वाला उम्मीदवार तो सभी तरह की गोलमाल कर सकता है और वह करता ही है, पर उसकी थोड़ी बहुत होड़ करने की कोशिश दूसरे लोग भी करते रहते हैं क्योंकि इस तरह चुनावों की हारजीत का यह धन्धा ही ऐसा है। जिस जातिवाद और सम्प्रदायवाद का विरोध नेता लोग वृलन्द आवाज से करते रहते हैं, उसी की सहायता से वे चुनाव जीतने में सफल होते हैं, और इस कारण वे कई प्रकार से जातिवाद व सम्प्रदायवाद का योजनाबद्ध पोषण करते हैं। जनतंत्र की पार्टियों के अन्तर्गत पदों के लिये कितने निम्नकोटि के भगड़े होते रहते हैं, सो हम लोग जानते ही हैं। इस जमाने के दूषित वातावरण में खासकर किस्से कहानियां और सिनेमा से देश के युवक युवतियों का मन बहुत विकृत होता जा रहा है। बहुत से अच्छे लोगों की आर्थिक स्थिति खराब हो रही है और इसी वजह से वे किसी न किसी सत्ताधारी के कुचक्रों के शिकार हो जाते हैं। किसी को नौकरी मिलने की आशा ले बैठी है तो किसी को नौकरी छूट जाने का भय।

इस बुराई के चित्र के मुकाबले में भलाई का चित्र दब जाता है, फीका पड़ जाता है। लोगों ने और अच्छे-अच्छे लोगों ने बुराई को मंजूर कर रखा है और ऐसा लगता है कि उन्हें न तो सुधरने की आशा है और न वे उसके लिए चिन्तित हैं। ऐसी हालत में तो निराशा के सिवाय कुछ ठहरता ही नहीं। बहुत से भले आदमी हार मानकर विरक्त हो जाते हैं। उनके हार मानने का कारण यह भी होता है कि सर्वसाधारण इस वेईमानी के वातावरण में किसी को ईमानदार मानने की स्थिति में नहीं है। और विपक्षी लोग अपनी खुद की वेईमानी को छिपाने के लिए ईमानदार लोगों पर लांछन की योजना बनाते ही रहते हैं।

इन तमाम परिस्थितियों के बावजूद मेरा आग्रह है कि अपने देश में सचाई, ईमानदारी और चारित्र्य का अकाल नहीं है। सर्व साधारण की नाड़ी की चाल सन्निपात जैसी नहीं हैं। यदि सच्चे ईमानदार आदमी अपने भलाई के आग्रह पर डटे रहकर बुराई का मुकाबला हर सूरत में करने का संकल्प करें तो उन्हें अवश्य सफलता मिलेगी। पर यह याद रहना चाहिए कि यह मार्ग कष्ट का है, चट्टानों से टकराना जैसा है। अकेले बच्चे प्रह्लाद के आग्रह ने क्या नहीं कर दिखाया? अकेले ध्रुव के आग्रह ने क्या परिणाम नहीं कर दिखाया? सत्ता से लड़ने वालों को कई बार जान की वाजी लगानी पड़ती है, पर सचाई के लिए मर जाने की जो साध होती हैं, उसके आगे जीने की कीमत क्या है? भलाई बुराई के संघर्ष में सफलता की नाप नहीं हो सकती। भलाई का आग्रह रखना ही मनुष्य के लिए जीत और बुराई का शिकार होना ही उसके लिये हार है। सच्चे से सच्चे प्रयत्न में भी दोष हो सकता है और अच्छे से अच्छे व्यक्ति में भी कमजोरी हो सकती है। लेकिन इससे भी हार मानने की ज़रूरत नहीं। साथ में दुनिया भर को बुरा मानते हुए अपने आपको अच्छा मानने की शेखी भी बड़ी खराब चीज है। एक दोष के कारण ही किसी को ना पास कर देना ठीक नहीं है और जहां तक हो सके सभी के गुणों का लाभ लेने की कोशिश होनी चाहिए पर कुछ दोष ऐसे हो सकते हैं जिन्हें सार्वजनिक जीवन की पवित्रता के लिए कुछ माप दण्ड तो रखना ही पड़ेगा, नहीं तो फिर राक्षस के भाई दैत्य। यह काम आसान नहीं है और समस्या जटिल है। आज इस विषय को मैंने प्रस्तुत किया है। इससे प्रागे का विवेचन दूसरे अवसर पर करने का मेरा विचार है।

ईमानदारी का आग्रह

धर्मशास्त्र और नीति शास्त्र में सभी कुछ लिखा हुआ है कि ऐसा करना चाहिए और वैसा नहीं करना चाहिए । लोग जो मामूली बातचीत करते हैं उसमें भी ये अच्छी बात की प्रशंसा और बुरी बात की निन्दा करते हैं । किसी व्यक्ति की बुरी बात साफ तौर से सामने आती है तो उसकी थोड़ी बहुत अपकीर्ति भी थोड़े समय तक फैलती ही है । परन्तु जहां तक देखने में आता है यही लगता है कि मनुष्य के जीवन में कहने की बात एक है और करने की दूसरी । पैसा कमा सकने से अथवा किसी दूसरे प्रकार की सफलता प्राप्त कर लेने से वास्तव में मनुष्य की बहुत सी बुराइयों पर पर्दा गिर जाता है और जिन लोगों को उस मनुष्य से काम होता है वे उसी के पास पहुँच कर लौकिक व्यवहार में उसकी प्रतिष्ठा बढ़ाते हैं । हमलोग विद्यार्थीकाल में सुनते थे और देखते थे कि थोड़ा सा मासिक वेतन पाने वाले अमुक राज-कर्मचारी ने अच्छी सी हवेली बनवा ली है और शादी गमी का काम पड़ने पर वह हजारों लोगों को जीमने के लिए बुलाता है और ऐसे अवसरों पर उस समय के बड़े से बड़े लोग उस कर्मचारी के यहां पहुँच जाते हैं और कोई

आगे बढ़ कर यह नहीं पूछता है कि आखिर इस तरह खर्च करने के लिए इतना यह धन कहाँ से किस जरिये से आगया। यह सब कुछ देखने से हम लोगों को कुछ नफरत सी होती थी। राजकर्मचारी का उदाहरण याद आगया, बाकी दूसरे धन्ये करने वाले लोग भी उल्टे सीधे तरीकों से धन कमा कर साहूकार बन जाते थे। राजा या राजा के किसी मर्जीदान को खुश रखना सभी सम्बन्धित लोगों के लिए जरूरी था। जो दूरले लोग इस मामले में वेपवाह होते थे उन्हें जोखिम उठानी पड़ती थी। किसी भी काम वाले आदमी को किसी बड़े हाकिम के यहां रोज-रोज सलाम करने जाना पड़ता था। कहीं कोर्ट कचहरी में रिश्त का बोलवाला बताया जाता था। इन सब बातों से उस समय की व्यवस्था से हम लोगों को ग्लानि हुआ करती थी। किसी-किसी क्षेत्र में किसी-किसी आदमी के लिए अच्छा सुनते तो वैसा सुनना हमको जरूर ही बहुत अच्छा लगता था।

जमाने को बदलने की कोशिश की गयी और आखिर जमाना बदल गया। जो लोग जमाने को बदलने की कोशिशों में शामिल हुए उनमें से बहुतों के हालचाल जेलखानों में देखने सुनने को मिले। खाने पीने की चीजों के लिए आपस में झगड़ा करना, जरा-जरा सी सुविधाओं के लिए किसी न किसी प्रकार की तरकीब लगाना इत्यादि कितनी ही बातें सामने आयीं। पर ऐसे हालात आम लोगों की जानकारी में ज्यादा नहीं आ सके। आम लोगों ने तो आशा बना ही ली कि अब जिन लोगों के हाथ में अधिकार आने वाला है वे पिछले लोगों से अवश्य ही ज्यादा अच्छे आदमी हैं और वे ईमानदारी का एक नया मापदंड पैदा करेंगे। पर लोगों ने थोड़े ही समय में देख लिया कि ऐसा कुछ हो नहीं रहा है। पहले की अपेक्षा आजकल बहुत बातें बदल गयी हैं। परन्तु जहां तक सच्चाई और ईमानदारी का तालुक है, यही कहना पड़ेगा कि जो हाल तब था उससे ज्यादा बुरा अब है। यह बात इतनी पक्की है कि इसे सिद्ध करने के लिए प्रमाण और उदाहरण पैदा करने की जरूरत नहीं है, जो बुराई पहले हो सकती थी, उससे ज्यादा आजकल हो सकती है, हो रही है, फर्क इतना है कि पहले के लोगों में प्रवृत्ति की योग्यता अधिक थी

और उनके प्रबन्ध में बाधा पहुँचाने वाले कोई नहीं थे। आज के प्रबन्धकों की प्रबन्ध शक्ति कम है और उनके प्रबन्ध को न चलने देने वाले उन्हीं के साथी संगी बहुत हैं जिनकी बात उनको सुननी ही पड़े, वरना वे उन्हें अपने कन्वों पर नहीं बैठने दें। लोकहित के काम पहले की अपेक्षा ज्यादा करने की बात है और बात तो है समाज का तमाम नक्शा बदलने की भी। पर ये बातें निष्पक्ष भाव से सफल हों और उनका लाभ बेजरिया लोगों को न्याय के तौर पर मिले तब मालूम हो कि सचमुच कुछ हो रहा है।

इस परिस्थिति से अब कुछ लोग बगावत करते हैं और वे कल्पना करते हैं एक नयी और अच्छी परिस्थिति पैदा करने की। वर्तमान सत्ताधारी पार्टों को कोसा जाता है और उसके बहुत से प्रभावशाली व्यक्तियों के कारनामों की चर्चा की जाती है। परन्तु सत्य की खोज करने वालों की निगाह दूसरी पार्टियों पर भी पड़ती है जो सत्ता प्राप्त करना चाहती हैं और जिन्होंने समाज का नक्शा बदलने के ऐलान कर रखे हैं। यदि सत्ताधारी पार्टों के लोग अपने संगठन के भीतर आपस में गोलमाल करते हैं तो दूसरी पार्टियों के लोग इस मामले में किसी से कम होंगे ऐसा लगता नहीं है। और उनमें से किसी पार्टों के हाथ में सत्ता आजाने पर क्या हो सो तो काम पड़ने पर देखने से ही ठीक-ठीक मालूम हो, बाकी अनुमान लगाया जाय तो आसार कुछ अच्छे हों सो बात नहीं है। आपस की होड़, प्रतिपक्षी को घोखा देकर गिराने की कोशिश, अपने पार्टों के दोषों को छिपाने की और दूसरी पार्टियों के दोषों को प्रचारित करने की प्रवृत्ति जिवर चाहें देखने को मिल सकती हैं। समाज का नक्शा बदलने के दावों की बात अलग है और वह बड़ी बात भी है। इसलिए उन दावों की समीक्षा अलग से ही करनी होगी और उसके लिए बहुत कुछ लिखना पड़ेगा। एक पार्टों के मुकाबले में दूसरी पार्टों की बात जो लोग करते हैं उन सबका दृष्टिकोण एक हो सो बात नहीं है। किसी को अपनी पार्टी में ठीक हिस्सा नहीं मिला तो वह नयी पार्टी की तलाश में निकल सकता है। किसी के अपने पुराने साथियों से नहीं पटी तो वह नये साथी जुटाने की फिक्र कर सकता है। परन्तु जिन लोगों का जी सचमुच भूठ

व बेईमानी से घबड़ाता होगा उन पर सच्चाई व ईमानदारी का आग्रह रखने वालों की खोज का जिम्मा आयेगा। उन लोगों को तब फिर ईमान से देखना होगा कि सच्चाई व ईमानदारी कितनी सुलभ है। बेईमानी से घबड़ा कर ईमानदारी खोजने को चले और जिधर निकले उधर खरी ईमानदारी के वजाय वही बेईमानी मिली तो खोज करने वाले किस नफे में रहे? नतीजा यह आता है कि देश की और समाज की जो हालत है सो है और उसमें जो मानव सामग्री है सो ही है। किसी को बेईमानी का विरोध और ईमानदारी का समर्थन करना हो तो वह अवश्य ही कर सकता है। पर उस हालत में उसे निरपेक्ष भाव अपनाना पड़ेगा, अर्थात् यह नहीं देखना होगा कि उसे कम माल मिलता है या ज्यादा, बल्कि यह मान कर चलना पड़ेगा कि उसे कम ही माल मिलने वाला है। निरपेक्षता की यह स्थिति अच्छी है, पर इससे सम्बन्धित लोगों को यह प्रश्न सता सकता है कि ऐसा करने से जल्दी ही कोई बड़ा परिणाम निकलता हुआ नहीं दिखायी दे रहा है तो क्या करना पड़ेगा? दूसरी ओर बहुत लोगों को मिल कर चलना होगा तो अपने ईमानदारी के आग्रह को किसी न किसी रूप में ढीला करना होगा। यह बात केवल राजनीति के क्षेत्र में लागू होती हो सो बात नहीं है। जहां तक मैं सोच सकता हूँ शुद्ध रचनात्मक कार्यों के लिए जोड़ तोड़ बिठाने में भी यह बात तो आयेगी और संयोजकों को अपना यही समाधान करना पड़ेगा कि कोई कसे भी होंगे, पर जिस काम को हम करना चाहते हैं उसे आगे बढ़ाने वाले तो वे हैं !

३ (क)

राजनैतिक कार्यक्रम का प्रश्न

पराधीन देश में राजनैतिक कार्यक्रम का ध्येय बनता है विदेशी शासकों को देश से निकालना, तो स्वतन्त्र राष्ट्र में भी राजनैतिक कार्यक्रम का लक्ष्य सत्ताधारी पार्टी को अपदस्थ करना होता है। विदेशियों को हटाने के काम में देश के वे लोग हिस्सा ले सकते हैं जो विदेशी शासन से लाभ उठाने वाले न हों, जो राजसत्ता से डरने वाले न हों, जो पराधीनता से पैदा होने वाली नामर्दी और निष्क्रियता के शिकार न हों, जो सत्ता से भगड़ा करने के फलस्वरूप होने वाले कष्ट व नुकसान की परवाह न करते हों। स्वतन्त्र देश में सत्ताधारी पार्टी का मुकाबला करने वालों को भी उसी प्रकार संघर्ष के लिए तैयार होना पड़ेगा। सत्ताधारी पार्टी को हटाने की कोशिश करने वालों के सामने खुद के हाथ में सत्ता ले लेने के अलावा दूसरा लक्ष्य हो भी सकता है और नहीं भी हो सकता है। वह दूसरा लक्ष्य कुशासन के के स्थान पर सुशासन लाना हो सकता है, और उससे बढ़ कर लक्ष्य हो सकता है समाज की तमाम व्यवस्था को ही लोक हित के लिए बदल डालना। वैसे तो प्रत्येक राजनैतिक पार्टी अपने आपको सत्ताधारी पार्टी से ज्यादा अच्छी बताती हुई और जनता के सामने पृथ्वी पर स्वर्ग ला देने के वादे करती हुई

मैदान में आती है, पर असल में महत्व उसी पार्टी का हो सकता है जो सचमुच सामाजिक क्रान्ति की अग्रदूत हो और जो न केवल सत्ताधारी पार्टी का वलिक वर्तमान सामाजिक व्यवस्था के तमाम समर्थकों का कड़ा मुकाबला करने की तैयारी रखती हो और उसी तैयारी से अपना कार्यक्रम घोषित करती हो। हिन्दुस्तान में गांधीजी ने राजनैतिक कार्यक्रम के साथ-साथ रचनात्मक कार्यक्रम भी चलाया था जिसका मतलब यह था कि जनता की भलाई करने या उसे राहत पहुंचाने का काम केवल शासकों के भरोसे न छोड़ा जाय। रचनात्मक कार्यक्रम के द्वारा जनता को यथाशक्ति लाभ पहुंचाने के अलावा सम्बन्धित लोगों को जनता में प्रवेश करने का अवसर भी मिलता था, और जिन दिनों शासन के साथ झगड़ा न चल रहा हो उन दिनों योद्धाओं को एक धंधा भी मिल जाता था। रचनात्मक कार्यक्रम को कितना भी अराजनैतिक बनाया गया हो, पर उसका ध्येय अवश्य ही राजनैतिक कार्यक्रम को बल देना था। यदि केवल रचनात्मक कार्य की खातिर ही रचनात्मक कार्यक्रम चलाया गया होता तो वह निःसन्देह प्रभावहीन होता। मेरी राय में उस हालत में चरखे के तार-तार में स्वराज नहीं बतया जा सकता था, हालांकि चरखा एक विशेष प्रकार की समाजव्यवस्था का द्योतक भी था ही सही। अपने यहां स्वराज का लक्ष्य तो पूरा हुआ। अब समाजव्यवस्था को बदलने का सवाल है, जिसे सत्ताधारी पार्टी उतना ही छूती है जितना उसे सत्ता को बनाये रखने के लिए जरूरी मालूम होता है अथवा पार्टी को खाना-दाना देने वाले मालिक लोगों की जितनी सी इजाजत उसे मिल जाती है। साम्यवादी पार्टी ने अपने विचार से और समाजवादी पार्टी ने अपने विचार से समाज का नक्शा बदलने का कार्यक्रम घोषित कर रखा है। पुरातनवादी लोग भारत की प्राचीन महिमा को वापिस लाने की धुन में ज्यादा मालूम होते हैं। और एक जमात है सर्वोदय विचारधारा के अनुसार काम करने वालों की, जिनमें एक ओर रचनात्मक सेवा की मर्यादा के आगे जाने का खयाल न रखने वाले लोग हैं तो दूसरी ओर वे लोग हैं जो यह मानते हैं कि समाज का राज्य-विहीनसर्वोदयी नक्शा बनाने के लिये राजसत्ता प्राप्त करने की जरूरत नहीं है, क्योंकि उनकी राय में केवल जनबल ही आर्थिक-सामाजिक-राजनैतिक

क्रान्ति लाने में समर्थ हो सकता है। जनवल की बात बहुत ठीक है, पर मुझे लगता है कि जनवल को भी संगठित तो होना पड़ेगा और जहाँ तक मेरा खयाल दीड़ता है, उसे सत्ता से टक्कर भी लेनी पड़ेगी। सत्ताधारी पार्टी अपने विरोधियों से सिर्फ तथाकथित वैध हथियार काम में लेने की अपेक्षा रखती है, क्योंकि वह खुद उन हथियारों से बहुत सुसज्जित है। दूसरे अवैध उपाय शान्तिमय हो सकते हैं और वे अशान्तिमय भी बन सकते हैं। सत्ताधारी पार्टी के सामने सबसे बड़ा सवाल सत्ता को बनाये रखने का बना हुआ है, और उसके लिए वह हर उपाय काम में लेने को तैयार रहती है। देश की जनता की भलाई करने का दावा तो उसका है ही जिसके आधार पर वह सत्तारूढ़ बनी रहने के अपने हक को सबसे ज्यादा बताने लगती है और बताने लगती है। भलाई के कामों के लिए साधन भी उसके पास या उसके हुक्म से या उसकी देश के बाहर से जुटा लाने की शक्ति के अन्तर्गत बहुत सारे हैं ही। उन साधनों के द्वारा कुछ ऐसे काम भी कभी-कभी तो घुणाक्षर न्याय से बन ही जाते हैं जिनका दबदबा दुनियाँ को मान लेना पड़े। उन कामों के करने कराने के सिलसिले में भी जनता को होने वाले लाभ से पहले उन लोगों को ठेके और रिश्वत से लाभ मिलता है जिन्हें वर्तमान समाज व्यवस्था का किसी भी सूरत में बदला जाना मंजूर नहीं हो सकता और जो उस काम का उपयोग समाज का नक्शा बदलना चाहने वालों के खिलाफ करने को सदैव कटिबद्ध रहेंगे। विदेशी शासन के समय अपना काम बनाने में अत्यन्त कुशल लोगों का एक समूह सत्ता के पास पड़ोस में मंडराता रहता था। आज स्वराज ने उस समूह की संख्या को बहुत बढ़ा दिया है, इसलिए जिधर देखिए उधर ही आपको नाना रूपधारी 'समाज सेवक' लोग विभिन्न प्रकार के 'कल्याणकारी कामों' में संलग्न और तल्लीन हुए मिल जायेंगे। ऐसे लोगों का कुछ न कुछ प्रभाव तो जनता पर चला ही आया है जिसका उपयोग वे उसे गुमराह करने में करते रह सकते हैं। खुद जनता को उतना ज्ञान या हीसला अभी तक नहीं है और वह अपने छोटे-मोटे सार्वजनिक काम के मोह में भी पड़ ही सकती है। कुछ लोग बहुत सच्चे और भले होते हैं, पर देखा गया है कि वे अपनी आर्थिक स्थिति से मजबूर हो कर सत्ताधारी के जा चिपकते हैं और उसके

द्वारा अपनी जीविका सम्पन्न होने से उसके वशीभूत या कम से कम सत्ता का विरोध करने में असमर्थ हो जाते हैं। ऐसे लोग भी देखे गये हैं जिनके ऐसी कोई मजदूरी नहीं है और जो सत्ताधारी पार्टी के ज्यादातर समर्थ लोगों की हर तरह से हीन भी समझते हैं पर जिन्हें अपनी किसी 'प्रीति परसन' की वजह से और मर्दानियत की कमी की वजह से भी "देश की भलाई की दृष्टि से" सत्ता के आस-पास पड़े रहना मंजूर है ! सत्ताधारी पार्टी बहुत मामूली 'पंचों' को बहुत थोड़ी सी रिश्वत के जरिये से ही अपने बस में रखने में सफल हो सकती है। जो बड़े लोग रिश्वत से या ऐसे वैसे उपायों से वशीभूत न हो सके, उनके खिलाफ कानूनी और कई प्रकार की गैर कानूनी कार्यवाही करने की पूरी गुंजाइश सत्ताधारी पार्टी के पास है।

यह सब कुछ तो है। पर सत्ताधारी पार्टी के बहुत से लोग अपने-अपने स्वार्थ साधन में लगे होने के कारण समझदार और जानकार जनता की निगाह में गिर रहे हैं, और सचमुच ही जनता को उनसे नफरत होती जा रही है। और आम जनता के सच्चे निरपेक्ष लाभ का काम न होने से भी सत्ताधारी पार्टी की स्थिति कमजोर बनती जा रही है। भले ही उतनी जाहिरा दिखायी नहीं देती हो, पर निश्चित रूप से आने वाली क्रान्ति की शक्तियां भी अपना काम कर रही हैं और वे क्रमशः जनता के मानस को बदल रही हैं। मैं तो सोचता हूँ कि ऊपर-ऊपर से होने वाले कामों से जनता कब तक प्रभावित होती रहेगी, जबकि उसकी मूलभूत समस्याओं का हल नहीं निकल रहा है, जो हल पूंजीवादी व्यवस्था के अन्तर्गत निकल सकता ही नहीं। मुझे पुराने और नये साथी कार्यकर्ता दिखायी दे रहे हैं जो समाज का चक्का बदलने के बड़े और मुश्किल काम में योग दे सकते हैं, पर उनमें से ज्यादातर की दृष्टि तात्कालिक राजनीति की ओर भी लगी हुई है। मैं खुद भी महसूस करता हूँ कि चाहे हम कितनी भी दूर की, कितनी भी गहराई की क्रान्तिकारी दृष्टि रखें पर तात्कालिक राजनीति को संभाल कर उसकी सहायता भी समाज का चक्का बदलने के प्रयत्नों में हमें लेनी ही पड़ेगी। सामाजिक-आर्थिक व राजनैतिक क्रांति की दो धाराएं देश के सामने हैं। सर्वोदयी और साम्यवादी। इस समय मेरा

यह कहना ज्यादा तो लगेगा, पर मुझे कभी-कभी लगता है कि इन दोनों के बीच का मार्ग भी शायद निकल सकना चाहिए। बीच का मार्ग निकल सके तो दोनों धाराएं अपनी-अपनी दिशा में वहेंगी ही सही। समाजवादी पार्टी साम्यवादी या कम से कम उसके कुछ प्रमुख लोग गांधी विचारधारा को अपनाते हुए दिखायी दे रहे हैं। वह भी एक प्रकार से बीच का मार्ग माना जा सकता है। पर एक बड़ा सवाल है जो मेरी भांति बहुतों को सताता होगा और वह सवाल है कर गुजरने का। जनतन्त्र की और आजादी की बात हमारी जवान पर बहुत आती है। पर वह कैसा जनतन्त्र जिसमें मिली हुई आजादी केवल शोषण करने की, लूट खसोट मचाने की आजादी है? इस तरह की तथाकथित जनतांत्रिक आजादी रहते हुए आज जनता की रोटी का सवाल मुझे कभी हल होता हुआ भजर नहीं आता। और क्रान्तिकारी लोगों को भी भले ही आज-कल की पद्धति के अनुसार होने वाले चुनावों में योग देना पड़े, पर मैं तो महसूस करता हूं कि ऐसे चुनावों के द्वारा जिनमें सत्ताधारी पार्टी हर तरह के पैसा बांटने के, परोपकारी काम बाँटते हुए दिखायी देने के, राजकीय कर्म-चारियों और साधनों का दुरुपयोग करने के सभी हथकण्डे काम में लेने के लिए बिना किसी लोक लाज के आजाद और तैयार है, गरीब जनता की भलाई का मार्ग खुलना बहुत ही ज्यादा मुश्किल होगा। और जो क्रान्तिकारी लोग चुनावों आदि के द्वारा सत्ता प्राप्त करने का प्रयत्न करने के विरुद्ध उनके जनवल का जागृत संगठन करने के सद्प्रयत्नों का कैसा क्या परिणाम कब तक निकल सकता है सो भी रागरहित होकर सोचने की बात है। जैसा कि मैं बता चुका हूँ, मुझे संघर्ष हर स्तर में अनिवार्य लगता है और सत्ता से परहेज करने से भी काम चलता हुआ मुझे नहीं लग रहा है। समाज व्यवस्था एक नमूने की हो चाहे दूसरे नमूने की अथवा भले ही कोई मिली जुली व्यवस्था हो जैसा मेरा सोचना चल रहा है। और मार्ग शान्ति का हो या मजबूर होकर भले ही जनता को शान्ति का मार्ग एक बार छोड़ना भी पड़े इसमें कोई शक नहीं कि आने वाली शक्ति की लड़ाई तगड़ी होगी।

३ (ख)

आन्दोलन-संघर्ष अवश्यम्भावी

एक जमाना था जिसके बारे में हम सुनते हैं कि तब राजा प्रजा का पालन करता था, राजा प्रजा को अपने औरस पुत्रों की भांति प्यार करता था, राजा-राजा इसीलिए कहलाता था कि वह प्रजा का रंजन करता था। उस जमाने में प्रजा को कोई सता नहीं सकता था, कोई सताता तो राजा की ओर से उसे दंड मिलता। प्रजा की राय की कीमत भी उस जमाने में कम नहीं थी। बाद में एक ऐसा जमाना आया जिसमें राजा का खास काम प्रजा की चोर-डाकुओं से रक्षा करने जैसा रह गया। फिर ऐसा जमाना आया जिसमें यह सवाल उठा कि राजा प्रजा से कर लेता है तो उसे प्रजा की भलाई के कुछ काम भी जरूर करने चाहिए। उस जमाने में राजा और उसके अनुचरों की हां-में-हां मिलाना राजभक्ति मानी जाती और कोई अपनी स्वतंत्र राय प्रकट करदे तो वह राजद्रोह हो जाता। किसी सत्ताधारी के द्वारा चलाये गये काम में हिस्सा लेने के लिए वरुचों तक को घसीटा जाता और देश के मान्य नेताओं को देखने के लिए चला जाना भी गुनाह मान लिया जाता। किसी को राज की नौकरी दी जाती तो वह उस पर राजा का बड़ा अनुग्रह माना जाता। नौकरी मिलती भी उन्हीं को और उन्हीं के रिश्तेदारों को जो

राजभक्ति की कसम खाने में सबसे ज्यादा आगे होते यानी जो सत्ताधारियों का गुणगान करके उनको रिझाने की कला में होशियार होते ।

अब आया है स्वराज ! यह बात स्वीकार की गयी है कि तमाम सत्ता की अधिकारिणी जनता है । यह बताया गया है कि जो कोई सत्ता का उपभोग करता है वह जनता की ओर से उसके प्रतिनिधि या सेवक या नौकर के रूप में करता है । तमाम जमीन जनता की, सारा धन जनता का, सब अधिकार जनता के, जो काम हो वह जनता के हितार्थ । इस स्थिति में कोई (यथा भूमिपति) बाधक माने गये तो उन्हें अलग कर दिया गया है । अब जो कोई (यथा पूंजीपति) बाधक माने जाते हैं उन्हें भी अलग हो जाना पड़ेगा । ऐसी हालत में किसी के शासक और किसी के शासित होने का सवाल नहीं उठ सकता । पर वस्तु स्थिति ऐसी है नहीं । पब्लिक-सर्विस-कमीशनों के होते हुए भी नौकरियों को काफी हद तक इनाम के बतौर आज भी बांटा जा सकता है । सुप्रीमकोर्ट और हाईकोर्टों के होते हुए भी आज न्याय की खरीद फरोख्त हो सकती है, चाहे वह रिस्वत के जरिये हो और चाहे मुकद्दमों में शुरू से आखिर तक लगने वाले तगड़े खर्च के जरिये हो । मतलब यह है कि पैसे के बिना न्याय प्राप्त करना संभव नहीं है । कहीं पर स्कूल या दवाखाना खुलवाना हो या कहीं सड़क का टुकड़ा बनवाना हो तो उसके लिए एक खास और नए प्रकार की सत्ताभक्ति की शर्त ज्यादातर पूरी करनी पड़े । जिस इलाके से 'वोट' पाने की ज्यादा आशा किसी सत्ताधारी को हो उसे वह हर तरह से निहाल करने की कोशिश करेगा, यानी अंधा तमाम 'सीरणी' को अपने 'घर वालों' को बांटना चाहेगा । जो इस प्रकार 'घर वाले' नहीं बन सकते, उन्हें धीरज से इन्तजार करना चाहिए । इसके अलावा आज बात-बात में राज की टांग छड़ी हुई है । राज के पास जाना हो तो या तो थैली बाँध कर जाओ या सफेद टोपी जैसी कोई निशानी लेकर जाओ । उस निशानी को ले जाने का भी पैसा लगता है । इन उपायों के साथ कोई जाय तो, कहावत के अनुसार, 'वह' किसी का सिर काट कर अपनी हथेली में ले जा सकता है, और शाम तक सही सलामत घर लौट कर आ सकता है । और कोई अभाग्य इन उपायों

के बिना "यमराज" के द्वार पर पहुंच गया तो वह अपना सिर कटा कर पहुँचा हुआ होगा तब भी उस पर यह कसूर कायम किया जा सकता है कि वह ऐसा क्या वेहोश रहा कि कोई सिर ही काट ले गया !

तब फिर पिछले 'शासक-शासित' के जमाने में और आज के 'स्वराज' के जमाने में क्या फर्क हुआ ? आज भी अर्जी लिये-लिये फिरो, आज भी जाहिर वकील की, पर्दा वकील की, दलाल की खुशामद करो और ऐसे किसी पुजारी के द्वारा किसी प्रस्तर मूर्ति के सामने सिर भुकाओ, फिर कहीं जाकर उस कठिन कठोर मूर्ति का चित्त पसीजे तो ठीक, वर्ना मौज करो । ऐसे छोटे जमाने में भाई-भाई के मामले मुकदमे या राज सम्बन्धी किसी भी काम के बारे में तो मैं यह कहूँ कि कोर्ट कचहरी या राज के पास जाते ही क्यों हो, भूल जाओ इन सबको और करलो अपना फैसला अपने आप ही ? वहाँ जाकर किसी के भी सिरोपाव बंधने वाला नहीं है । और राज से किसी जन-समूह की कोई मांग हो तो कह दिया जाय एक बार राज से, लिख कर दे दिया जाय और कुछ न हो तो शोर गुल शुरू किया जाय, फिर भी कुछ न हो तो खम्भ ठोक कर ललकारा जाय और कहा जाय— है कोई हमसे लड़ने वाला ? जब सब कुछ जनता का है तो उसे अपनी छोटी बातों के लिए भी रोज-रोज अर्जियाँ ही क्यों पेश करनी पड़े, नित्य उठ कर ऐसे दर्शन ही क्यों करने पड़े—जो वक्त-वे-वक्त न करना ही ज्यादा अच्छा हो, और किसी के पीछे-पीछे ही क्यों डोलना पड़े ? किसी को यह आश्वासन, सीधा या परोक्ष क्यों देना पड़े कि सरकार ! समय आने पर फिर भी आपके ही सिर पर मुकुट रखा जायगा और आपके ही गले में वरमाला डाली जायगी ।

आम जनता को यह समझ लेना चाहिए कि उसके "चुने हुए प्रतिनिधियों" और उसके 'पुस्तैनी प्रतिनिधियों' के बीच की बात तो अलग है, जो कि वे दोनों तो हर सूरत में 'सिद्ध-सावक' के जोड़े के तौर पर काम करते हैं, बाकी जनता की खुद की जो कोई बात है उसका पक्का हल तो समाज, राज और अर्थ-रचना की समूची व्यवस्था के बदलने से ही हो सकेगा । वह हल तभी हो सकेगा जब जनता के हाथ में सत्ता सीधी आ जायगी या

उन प्रतिनिधियों के हाथ में आ जायगी जिन्हें जनता अगले चुनावों का इन्तजार किए बिना ही घर बैठे सके। इस सारी व्यवस्था को बदलने के लिए क्या करना, और जब तक नहीं बदले तब तक क्या करना ? करना क्या, जनता को सहस, निर्भयता, आत्म निर्भरता और मौका मिलने पर लड़ पड़ने की भावना अपने भीतर भरना चाहिए। संविधान बनाये जाते हैं, कानून कायदे बनाये जाते हैं, और साधारणतया उन्हें माना भी जाता है। उनके अन्तर्गत भी बहुत सा काम किया जा सकता है। परन्तु ऐसे मौके आ सकते हैं जब कानून-कायदे का मुकाबिला करना पड़े और जब संविधान को भी चुनौती देनी पड़े। जहां हिंसा और हिंसा की धमकी और उससे भी बुरे जरियों से जनता को बश में रखा जाता है, वहां जनता से यह अपेक्षा रखी जाती है कि वह हिंसात्मक उपाय काम में न ले और सच्ची व ईमानदार रहे। यह एक बड़ी विडम्बना है। पर जनता के हक में तो शान्ति और सच्चाई का मार्ग ही अच्छा है और उस मार्ग पर चलना गांधीजी इस देश की जनता को खूब सिखा गये हैं। जनता के लिए सबसे पहले देखने की बात यह होनी चाहिए कि उसका अपना मुद्दा ठीक है या नहीं, जनता के जो सच्चे सेवक या साथी हों उन्हें भी मुद्दे पर ठीक होने की मुहर लगानी चाहिए। उसके बाद फिर आवश्यक प्रारंभिक कार्यवाही का भुगतान करना चाहिए। उसमें सफलता न मिलने पर सत्ता को चुनौती देने का समय आयेगा। वह चुनौती अङ्गद के पांव की भांति अडिग हो कर दी जानी चाहिए। फिर आगे जो कुछ हो सो देखा जाय। अन्त तक, कठोर अन्त तक। अपना हक पाने के लिए जनता के पास यही एक ब्रह्मास्त्र है। ब्रह्मास्त्र का प्रयोग आसान नहीं होता है। पहले जनता का प्रशिक्षण हो, उसके साथ कार्यकर्ताओं का पक्का सम्पर्क-सम्बन्ध प्रत्यक्ष सेवा के द्वारा स्थापित हो और फिर अपने हक की प्राप्ति के लिए मामूली उपाय काम में लिये जाय, पर वे उपाय दस्तावेष्ट पेश करने के और गिड़गिड़ाने के उपाय न हों, रिश्वत देने और रिश्वत लेने के उपाय न हों। और हो फिर आखिर में ब्रह्मास्त्र प्रयोग। किसी भी क्रांति के लिए ब्रह्मास्त्र का प्रयोग अनिवार्य होगा, और उसका अभ्यास रोजमर्रा के मामलों को लेकर किया

जा सकता है। गांधीजी ने सुव्यवस्थित सत्ता के विरुद्ध इस अस्त्र का प्रयोग कराया और सत्ता के मोहरे बदले। पर यह काफी नहीं हुआ। एक मंजिल और बाकी है उस मंजिल पर पहुँचने से पहले टक्करें होती ही रहेंगी। टक्करें नहीं होंगी तो आगे बढ़ना नहीं होगा। देश में मोर्चे लगे हुए हैं, एक शासकों का सत्ता की किलावन्दी में सुरक्षित और दूसरा जनता का बिखरा हुआ और अशिक्षित सा। जनता को अपने मोर्चे को सुव्यवस्थित और सुदृढ़ बनाने के लिए आन्दोलन, संघर्षात्मक कार्यक्रम की अनिवार्यता स्वीकार करनी होगी।

सार्वजनिक कार्यकर्ता की कसौटी

किसी भी सार्वजनिक कार्यक्रम का आधार एक न एक विचारधारा पर होता है। इसलिए विचारधारा का सुनिश्चित होना आवश्यक होगा जिससे यह पता चलेगा कि जो करने वाले हैं वे किस लिए क्या किया चाहते हैं। प्रत्यक्ष कार्यक्रम का निर्णय जनता की आवश्यकताओं और कार्यक्रम के बारे में मतभेद हो सकता है और वह प्रायः हुआ ही करता है। जो लोग अलग-अलग पार्टियों में होते हैं उनके आपस में मतभेद हों वह तो होता ही है पर एक पार्टी के विभिन्न सदस्यों में भी मतभेद होता रहता है। जो मतभेद किसी सिद्धान्त पर आधारित होता है उसकी कद्र की जा सकती है। वैसा मतभेद विचार विनिमय से न मिटाया जा सके तब भी वह सार्वजनिक जीवन को हानि पहुँचाने वाला नहीं बनेगा। पर जो बिना हुआ मतभेद खड़ा किया जाता है वह कैसे मिटे? अमुक कार्यकर्ता अपनी खुद की बुराई पर पर्दा डालने के लिए बढ़-बढ़ कर बात करने लगता है और वह किसी दूसरे कार्यकर्ता को अपने से पिछड़ा हुआ, प्रतिगामी और किन्हीं अवांछनीय तत्वों से मिला हुआ बताने लग जाता है। ऐसे मामलों में अपनी बुराई को छिपाने के साथ-साथ अपने भीतर छिपी हुई एक निम्नकोटि की व्यक्तिगत महत्वकांक्षा

भी हुआ करती है। किसी एक की महत्वाकांक्षा को पूरी करने के लिए दूसरों की सहायता की आवश्यकता भी पड़ती है। वह सहायता आसानी के साथ उन लोगों से मिल जाती है जो समझते हैं कि अमुक व्यक्ति विशेष की महत्वाकांक्षा पूरी होने से उनका खुद का भी कुछ काम तो बन ही जायगा। एक ही पार्टी के लोगों में गुटबन्दी होने का और एक दूसरे को गिराने की कोशिश करने का खास कारण यही होता है। महत्वाकांक्षा की कई कोटियां हो सकती हैं। बड़ा बनने की इच्छा, कीर्ति की इच्छा, किसी पद को पाकर उसके द्वारा धन पा लेने की इच्छा, भौतिक साधन प्राप्त करके उनके द्वारा दूसरी अनुचित अभिलाषाओं को पूरी करने की इच्छा। इन इच्छाओं को होशियार आदमी प्रकट नहीं होने देगा और इनकी पूर्ति के लिए जो अच्छे बुरे काम करने पड़ेंगे उनके कारण वह कुछ दूसरे ही बताता रहेगा। इस प्रकार की इच्छाएं मनुष्य के लिए स्वाभाविक सी लगती हैं और वे आज के युग की नयी चीज नहीं होकर हमेशा से ही चली आती हुई थी मालूम पड़ती है। जैसे साधु का वेष धारण कर लेने मात्र से साधुता नहीं आ जाती, वैसे ही केवल सेवक का बाना अपना लेने से सेवा भाव सिद्ध नहीं हो सकता। कार्यकर्त्ताओं के लिए जब समय आम तौर से कठिनाई का और कष्ट का होता है, तब पता नहीं चल सकता कि कौन सा कार्यकर्त्ता किस प्रकार की महत्वाकांक्षा का शिकार है। पर अपने यहां तो लोग जब जेलों में गये तब वहां के रहन-सहन आदि से भी बहुतों के धरित्र का हाल दूसरों को मालूम हो गया था।

अपने देश में हम लोगों को सत्ता मिलने के बाद से बहुत सी बातें देखने जानने को मिली हैं। राजनैतिक क्षेत्र में काम करने से जिनको नुकसान हुआ समझा गया। उनके उस नुकसान की एवज में उनकी सहायता करने की प्रवृत्ति देखने में निर्दोष सी ही नहीं बल्कि बहुत कुछ आवश्यक और उचित भी दिखायी देती है। पर मुझे लगता है कि यह प्रवृत्ति सार्वजनिक जीवन के लिए घातक सिद्ध होने वाली है। जिसका जो कर्त्तव्य था उसने समय पर पूरा किया था। अब उसका इनाम क्यों? और वह इनाम राष्ट्र की सम्पत्ति से एक पार्टी के लोग केवल अपने ही लोगों में कैसे बांट सकते हैं? इनाम

वांटने और पाने की यह प्रवृत्ति जब नीचे की ओर उतरने लगती है तो उसका क्या ठिकाना ? वह खजूर की चोटी पर से फिसलने जैसा होता है । यानी बिना काम किये अलाउन्स, पक्षपात से दी गयी नौकरी, पात्रता के बिना दी गयी जमीनें, तकावी के वहाने दी गयी वख्शीशें, बेजा तरीके से वांटें हुए परमिट लायसेंस और ठेके, चुनावों के जमाने में घनपतियों से वसूल किया गया रुपया, पंचवर्षीय योजना में से मिली हुई घनराशियों की चोरी, अपने या पार्टी के काम में मदद पहुँचाने के वादे पर किये गये स्कूल व दवाखाना आदि खोलने का काम, फरीकों से ली गयी रिस्वत, वकालत के नाम पर चलने वाली दलाली, चोरी डकैती में से मिलने वाला हिस्सा, यह सभी कुछ सम्बन्धित लोगों की ओर से उचित और अनिवार्य की सीमा में माना हुआ समझिए । सत्ता के मद में पुराने जमाने की सी दावघोंस दिखाना, किसी से जबरदस्ती काम करवा लेना और उसकी मजदूरी किराया आदि न चुकाना, कोई जरा सी चींचपड़ करने लगे तो उसके किसी भी तरह मुकदमा चिपकवा देना, थानेदार, तहसीलदार नाजिम के बल पर दूसरे लोगों को दवाते रहना— ये सब नित्य और हर कहीं होने वाली मामूली बातें समझी जा सकती हैं । क्योंकि ऐसे काम करने वाले सोचते मालूम होते हैं कि पार्टी के लिए तो कुछ भी किया जा सकता है और इसी के साथ-साथ पार्टी के लिए अच्छा काम करने वाले को अपने खुद के या अपने साथी संगियों के लिए भी ऐसा ही कुछ करते रहना पड़े तो उसमें क्या बुराई है सार्वजनिक अनाचार की ऐसी हालत में व्यक्तिगत जीवन की दूसरी बुराइयों के बारे में तो किसी के लिए कोई कह ही क्या सकता है ? पार्टी के कोई भले आदमी इन घबों में नहीं पड़ेंगे तो वे ही घाटे में रहेंगे । कोई इन बातों का विरोध करने का दुस्साहस करेंगे तो वे पार्टी के लिए गद्दार बताये जायेंगे और मौका आने पर जाति-वहिष्कृत हो जायेंगे या कर दिये जायेंगे ।

जिन कार्यकर्त्ताओं की लाभ उठाने के इस क्षेत्र में क्षमता सिद्ध हुई वे मजे में दिखायी देते हैं । जिन्हें मौका नहीं मिलता या जो कामयाब नहीं हो हो पाते, वे शिकायत करने वाले बन जाते होंगे । पर मेरा विश्वास है कि अपने यहां ऐसे कार्यकर्त्ताओं की कमी नहीं है जो कुछ भी हो जाय तब भी

ऊपर बताया हुआ कुकर्मी में अपने आप को नहीं फँसने देंगे । ऐसे बहुत से कार्यकर्त्ता तकलीफ में हैं । किसी पर कर्ज हो गया है, किसी के पास जीवन निर्वाह का साधन नहीं है । फिर भी वे किसी से सहायता की अपेक्षा नहीं रखते और जैसी परिस्थिति है उसी में अपना सेवाकार्य जारी रखने की इच्छा और हिम्मत रखते हैं । मैं यह मानता रहा हूँ कि दिन रात समाज-सेवा में लगे रहने वाले कार्यकर्त्ता और उसके परिवार के निर्वाह का जिम्मा समाज पर होना चाहिए । पर आज के दूषित राजनैतिक वातावरण में कार्यकर्त्ता के लिए यह रास्ता भी खतरनाक है । आजकल समाज का बहुत सा पैसा ऐसे लोगों के हाथ में पहुँचा हुआ रहता है जो उसका उपयोग-दुरुपयोग अपनी निजी महत्वाकांक्षा को पूरी करने के लिए या अपनी पार्टी के उचितानुचित कामों के लिए ही करते हैं । किसी सार्वजनिक निधि से निर्वाह का माध्यम प्राप्त करने पर उस निधि की शर्तों से बंधना पड़ता है । परन्तु स्वतन्त्र रीति से किसी क्षेत्र में किसी कार्यकर्त्ता के निर्वाह का साधन क्षेत्र के लोगों के द्वारा जुट जाता है तो उसमें सहज ही कोई बुराई नहीं होगी । साधारणतया तो यही मानकर चलना पड़ेगा कि दूसरे लोगों की भाँति कार्यकर्त्ता को भी अपनी जीविका के लिए कुछ न कुछ धन्या अपनाना पड़ेगा जिससे वह स्वाभिमान और ईमान के साथ जिन्दा रह सके और साथ में यथाशक्ति सेवा भी कर सके ।

ऊपर की पंक्तियों में कार्यकर्त्ता के लिए एक कसौटी बना दी गयी है । जिससे एक मापदंड का आभास होता है । विचारधारा और कार्यक्रम की बात तो अलग है, जिसे जो विचारधारा और जो कार्यक्रम पसंद हो उसे ही वह अपनाये । कार्यकर्त्ताओं को मानव स्वभाव से प्राप्त बाँक टेढ़ को वर्दाश्त करना पड़ेगा । कार्यकर्त्ता की किसी व्यक्तिगत या पारिवारिक कमी वेशी के विषय में भी ज्यादा कड़ाई नहीं बरती जा सकती । एक उचित मर्यादा में आगे बढ़ने की या कीर्ति की इच्छा को अक्षम्य मानने से भी काम नहीं चलेगा । कार्यकर्त्ता में वह सामान्य ईमानदारी तो होनी ही चाहिए जिसकी अपेक्षा किसी भी नागरिक में की जा सकती है । सार्वजनिक क्षेत्र में कार्यकर्त्ता का ऐसा चारित्र्य तो होना ही चाहिए जिसके आधार पर उसमें लोभ वश न

विगड़ जाये की शक्ति मानी जा सके । जो कार्यकर्ता पैसे या पद के आवार पर खुद विगड़ सकता है या विगाड़ा जा सकता है उसके द्वारा समाज हित का काम होने की आशा रखना दुराशा मात्र होगी । आज एक कार्यकर्ता बिल्कुल ठीक है लेकिन कल वह ठीक न रहे, यह कतई सम्भव है । इसलिए आम जनता का विश्वास कार्यकर्ता पर न रहे तो वह जनता का दोष नहीं है । कभी-कभी जनता कार्यकर्ताओं से ज्यादा अपेक्षा भी रखने लगती है । पर उससे भी कोई बुराई नहीं है । असल में सच तो यह है कि कार्यकर्ता को साधारण नागरिक से कुछ विशेष तो होना ही चाहिए । वैसा न हो तब भी ईमानदारी में औसत नागरिक से कम रहने वाला कार्यकर्ता तो जनता को कभी स्वीकार नहीं हो सकता । यह दूसरी बात है कि जनता अच्छी तरह से जागृत न हो और इस कारण वह ऐसे लोगों के फन्दे में हो कि जो कुछ पुराना असर रखते आये हैं और जो आज भ्रष्ट सत्ता से सम्बन्ध बनाया रख कर अपना काम बनाते रहते हैं—इसलिए जनता कुछ समय तक भ्रम में रह जाय । यह भी सम्भव है कि किसी हद तक जनता ऊपर-ऊपर से होने वाले भलाई के कामों से थोड़ी बहुत प्रभावित होती रहे । यह मेरा विश्वास है कि अन्ततोगत्वा आम जनता की ओर से कार्यकर्ता पर नरम की अपेक्षा कड़ी कसौटी लागू होगी और वह औसत से कम ईमानदार कार्यकर्ता को कभी स्वीकार नहीं करेगी ।

कार्यकर्ताओं के निर्वाह के विषय में

पुराने जमाने के 'ब्राह्मणत्व' की कल्पना मेरे दिमाग में बसी हुई है । उस समय ऐसे लोग होते थे जो अपने जीवन निर्वाह का भार समाज पर छोड़ कर यानी भिक्षावृत्ति से गुजर करते हुए कल्याणकारी काम करते थे । उन लोगों के तप तेज का लोहा सबको मानना होता था । बीच के जमाने में भी बहुत से सन्त हुए हैं जिनके लिए सांसारिक दृष्टि से कोई हानि लाभ नहीं था । मुझे ऐसा लगता रहता है कि उसी प्रकार के लोगों पर समाज और धर्म की स्थिति अवलम्बित होती है । नये जमाने में क्रांतिकारी दल का उदय हुआ जिसका त्याग और साहस प्रशंसा के योग्य था । क्रांतिकारियों के तरीकों को कोई पसन्द करे या न करे, पर उनकी देशभक्ति और कर गुजरने की तथा मर मिटने की साध को साधुवाद देना पड़ेगा । बङ्किम बाबू के 'आनन्द मठ' को पढ़ते ही चले जाइये ! स्व० गोपाल कृष्ण गोखले ने 'सर्वेण्ट्स आफ इण्डिया सोसाइटी' की स्थापना की जिसके द्वारा देश सेवकों को जीवन निर्वाह की चिंता से मुक्त करने की व्यवस्था को जाती है । उसी प्रकार स्व० लाला लाजपत राय ने 'सर्वेण्ट्स आफ पीपुल सोसाइटी' बनायी । गांधीजी के सत्याग्रहाश्रम के द्वारा असंख्य कार्यकर्ताओं का निर्माण हुआ और मुख्यतया

स्व० सेठ जमनालाल बजाज के प्रयत्नों से 'गांधी सेवा संघ' बना। राजस्थान में स्व० विजयसिंह पथिक के प्रबल व्यक्तित्व के तत्वावधान में 'राजस्थान सेवा संघ' खड़ा हुआ। कार्यकर्त्ताओं के शिक्षण तथा निर्वाह की दृष्टि से वनस्थली में 'जीवन कुटीर' के द्वारा भी एक विनम्र प्रयत्न हुआ। आजकल अपने प्रान्त में 'राजस्थान सेवक संघ' है और अखिल भारतीय पैमाने पर 'सर्व सेवा संघ' भी है। इसमें ये कुछ संस्थाएं अपने सदस्यों पर राजनैतिक कार्य न करने का प्रतिवन्ध लगाती हैं, जिसके बारे में मतभेद हो सकता है। राजनैतिक पार्टियां यथाशक्य अपने कार्यकर्त्ताओं के निर्वाह का इन्तजाम करती हैं।

इस सम्बन्ध में मूल कल्पना यह है कि जो व्यक्ति अपना पूरा समय लोक सेवा के काम में लगाता है उसके भरण पोषण का भार समाज को उठाना चाहिए। परन्तु आज के जमाने में वातावरण दूषित हो गया है। कार्यकर्त्ताओं की आवश्यकता हर जगह हर समय रहती है। इसका यह परिणाम देखा गया है कि जिन लोगों का निश्चित उच्च ध्येय नहीं होता है वे भी सेवा के मैदान में आ जाते हैं और उनका वहां पर स्थान भी बन जाता है ऐसी स्थिति में पैसों की मुख्यता हो जाती है। सब लोगों ने निजी कमाई के रास्ते को नहीं अपनाया या वाद में छोड़ दिया, उन्हें कहीं न कहीं अपनी गुजर का जुगाड़ करना पड़ा। किन्हीं लोगों को कहीं से सुविधा मिल गयी तो उनका जीवन स्तर कुछ ऊंचा हो गया। और बहुत से लोगों ने काफी कष्ट भी उठाये। स्वराज से पहिले कार्यकर्त्ताओं के निर्वाह के लिए साधन सम्पन्न लोग पैसा देते थे, कुछ तो भले आदमियों को मदद पहुँचाने की भावना से और कुछ इस दूरदेशी से कि ये लोग आगे चल कर उपयोगी साबित होंगे। स्वराज आने के साथ-साथ नई स्थिति पैदा हो गयी। पैसा दे सकने वालों की सत्ता से सम्बन्धित लोगों के लिए उनकी हैसियत के अनुसार कुछ न कुछ देते रहना ठीक लगा। दूसरी ओर कार्यकर्त्ता भी दुःख पाये हुए थे, इसलिए उन्होंने अपना हक मान कर ऐसी मदद स्वीकार करना शुरू कर दिया। फिर पैसे की एवज में देने वाले का काम निकालने की बात सामने आने लगी। साथ ही व्यक्तियों के अलावा 'पार्टी' की मदद का सवाल

खड़ा हो गया। इस झमेले में सिद्धान्त का लोप हो गया और ऐसी स्थिति बन गयी जिसमें देने वालों की बात ही क्या, लेने वालों के दिमाग से भी उचितानुचित का फर्क निकल गया। अपने लिए या पार्टी के लिए पैसा चाहिए और किसी होशियार गर्जमन्द से पैसा मिल जाता है तो उसे ले लेने में और उसकी एवज में देने वाले का कुछ काम निकाल देने या देने में भी क्या बुराई हो सकती है—इस प्रकार सम्बन्धित कार्यकर्त्ताओं ने सब कुछ शुद्ध कर लिया। सत्ता के साथ कार्यकर्त्ताओं के हाथ में राजकीय साधन भी आये। कार्यकर्त्ताओं ने सोचा कि अपनी मदद करने वाले 'छुट भइयों' का और दूसरे 'गैर विरादरी वालों' को भी उन साधनों में से कुछ पांती दे दी जाय तो क्या हर्ज है ! वह पांती एक ओर व्यक्तियों को दी जा सकती है तो दूसरी ओर सार्वजनिक कामों के वहाने किसी जगह की जनता के नाम पर भी की जा सकती है। इस परिस्थिति में एक नये प्रकार के भ्रष्टाचार का बोलबाला हो गया है।

जो कार्यकर्त्ता किसी न किसी प्रकार के घन्घे से अपनी रोजी कमाते आए हैं, उनमें से कई एक ने यह सोचा कि सत्ता के पड़ाई में बने रहने से घन्घे के फलने फूलने में मदद मिल जायगी। इसके अलावा मौके से कोई पद मिल सकता है और उस पद के साथ लगी हुई इज्जत और पद के कारण होने वाला लाभ भी। जो लोग नेता या अनुचर के रूप में उस 'अलकापुरी' की किलेवन्दी में स्थान पा गये उनका तो कहना ही क्या ? बाकी परकोटे के बाहर की बस्ती में तीसरे-चौथे-पांचवे नम्बर के बहुत लोग मंडराते हुए देखे जा सकते हैं। वाद में ऐसे लोगों का नम्बर आता है जिन्हें खुद का कुछ लेना देना नहीं है, पर जिनको किन्हीं दूसरों का अटका काम निकलवा देने की फिक्र रहती है। ऐसी हालत में काम निकलवाने वाले लोग काम निकाल सकने वालों के पीछे लगे रहते हैं। लेकिन बाकी का संसार इस तमाशे को देख कर कुड़ता है, चिड़ता है और बुरा भला कहने लगता है कि वे सब चोर हैं। इस परिस्थिति ने कार्यकर्त्ता की प्रतिष्ठा को समाप्त कर दिया है। इस अंधेर नंगरी में 'टके सेर भाजी टके सेर खाजा' की कहावत चरितार्थ हो रही है। चोर पुरी के भीतर साहूकार की मुश्किल होगी, और बाहर वाले

समझेंगे कि यह भी चोर पुरी वाला ही है, सो इसकी भी साहूकारी का क्या ठिकाना !

इस सबका नतीजा यह आता है कि जो भले आदमी लोक सेवा का काम करना चाहते हो उन्हें अपनी रोजी दूसरों की भांति कमाना चाहिए और जिस जनता के बीच वे रहते हों, उसी जनता की वन्दगी उन्हें वजा देनी चाहिए। इस प्रकार कार्यकर्त्ता की इज्जत फिर से बन सकती है, और जनता को उसका भरोसा हो सकता है। यह रास्ता कठिन है और कष्टदायक है, क्योंकि पूरी शक्ति पेट भरने के लिए मेहनत करने में लगाने के बाद सेवा कार्य करना होगा और उसकी एवज में कुछ माली एवजाना मिलेगा नहीं। रिश्वत लेने वाला सरकारी मुलाजिम घर वालों के लिए अच्छा घर और जेवर बनवा सकता है और सबको कुछ दे ले कर खुश रख सकता है। उसके मुकाबले में कोई रिश्वत न लेने वाला उसका साथी होगा तो उसकी घर वाली तक उसे कोसेगी ! यह मजा अपने देखने में आया हुआ नहीं है क्या ? तो फिर अच्छे कार्यकर्त्ताओं को ऐसी ही तैयारी करनी पड़ेगी और तभी और उन्हीं से भला होगा। कुछ लोग ऐसे जल्द हो सकते हैं जो चौबीस घण्टे सेवा कार्य ही में लगे रहें और जिनके लिए कमाई का धंधा करना सम्भव न हो और इस आधार पर जिनके लिए प्रथमतः सेवा क्षेत्र की जनता की ओर से कुछ व्यवस्था हो जाय। वह व्यवस्था भी खुले तरीके से होनी चाहिये और उचित मर्यादा में होनी चाहिए। आज के राजनैतिक वातावरण की इस काजल की कोठरी में अपने आपको बचा कर चलना न केवल कार्यकर्त्ता के व्यक्तित्व के लिए बल्कि उसके सेवा कार्य की सफलता के लिए भी अनिवार्य है।

आर्थिक साधनों का सवाल

आजकल जनता के हित की बात बहुत की जाती है। वास्तविक जनता का सचमुच हित साधन किस कार्यक्रम द्वारा हो सकता है सो पहले देखने की बात है और जनता को उस कार्यक्रम में प्रवृत्त कर सकने वाले कार्यकर्ता कैसे होने चाहिए सो दूसरी बात सोचने की है। एक बात सर्वथा सुनिश्चित है कि जनता का हित साधन जनता के द्वारा ही हो सकता है। खुद जनता सचेत और जागृत होकर प्रयत्न न करे तो किसी भी 'परोपकारी' के प्रयत्नों के फलस्वरूप जनता की सच्ची और स्थायी भलाई होना मुझे सम्भव नहीं लगता है। भलाई के कार्यक्रम को पूरा करने के लिए रुपये पैसे की आवश्यकता होगी तो वह कहाँ से किस प्रकार प्राप्त किया जाय सो तीसरा सवाल सामने आता है। बहुत पुराने जमाने में आश्रम हुआ करते थे। सम्भवतः उनके लिए राजा की ओर से जीविका की कोई व्यवस्था होती होगी। और यह सो सुनते ही हैं कि आश्रम के विद्यार्थी भिक्षा लाते थे जिससे आश्रमवासियों का गुजर हो जाया करता था। वह जमाना अब नहीं रहा और वैसे भिक्षावृत्ति आज कुछ व्यक्तियों के भोजन की पूर्ति के लिए भी नहीं चल सकती तो बड़े पैमाने पर होने वाले दूसरी तरह के खर्च की तो बात ही क्या ? बीच के जमाने में राजा

लोग 'गुरणी' लोगों को आश्रय देते थे और ऐसे राजा "साहित्य संगीत कला" के संरक्षक (पेट्रन) कहलाते थे। वैसी 'पेट्रोनेज' का जमाना अब नहीं रहा। और वह 'पेट्रोनेज' सच पूछा जाय तो आजकल की जनता की उठाने वाली प्रवृत्ति के लिए तो घातक सिद्ध होगी। स्वराज के बाद भी देखने में आता है कि जिनके हाथों में जनता का दिया हुआ द्रव्य आता है वे उसे इस तरह बाँटते हैं जैसे वे उसे कहीं से खुद कमा कर लाये हों। और जनता के पैसे का जनता के हितार्थ उपयोग करते समय वे लोग इस बात का पूरा ध्यान रखते हैं कि सम्बन्धित जनता से उस पैसे की एवज में उन बाँटने वालों को कुछ मिलेगा या नहीं। यह ध्यान कोई भले आदमी न रखे और किन्हीं को ऐसा ध्यान सजग जनता न रखने के लिए मजबूर करदे तब भी इस प्रकार की परोपकार वृत्ति से लगाया हुआ पैसा जनता में जीवन का संचार नहीं होने देगा। असल में जनता की खुद की स्थिति ऐसी बननी चाहिए कि वह अपने पैसे को अपने आप ही अपने भले के लिए लगा सके। सच्चा स्वराज होने पर ऐसी स्थिति बन सकती है। धनी लोग कमाई में से 'पुण्य' के तौर पर एक हिस्सा खर्च करते आये हैं। एक समय वे कुआँ, बावड़ी, धर्मशाला में पैसा लगाते थे। बाद में औपचारिक, पाठशाला में लगाने लगे। उस दान में जब सात्विकता नहीं होती थी तो उसके जरिये स्वर्ग प्राप्ति की कामना और कीर्ति की लालसा दाताओं को सताती थी। और बाद में तो दाता लोग यह ध्यान रखने लग गये कि जो रुपया वे किसी को चन्दे के रूप में दे रहे हैं उसका एवजाना उनका कोई काम बनने के तौर पर उन्हें मिलेगा या नहीं। और इससे आगे तरक्की हुई तब तो ऐसे दान ने सीधे रिश्वत का रूप ही धारण कर लिया। आज के समय में या तो कोई सरकार अपने अनुमोदकों और समर्थकों को उनके द्वारा अपनी शक्ति को सुस्थिर बनाने के उद्देश्य से धन खर्च करती है या कोई घनपति राज संस्था में अपना प्रभाव बनाये रखने के लिए या अपने अमुक-अमुक काम बनवा लेने के लिए उनके पास धन पहुँचाते हैं जिनके हाथ में लोगों का काम बनाने बिगाड़ने की सत्ता आधी हुई है। सरकार वाले और पूँजी वाले सभी 'राजनैतिक' कामों के लिए अथवा राजनैतिक कामों में भाग लेने वालों के हाथ में पैसा नहीं देंगे। और

राजनैतिक काम के माने वह काम जो वर्तमान सत्ताधारियों के कदाचित् विरुद्ध पड़ता हो। सत्तारूढ़ दल के पक्ष में पड़ने वाला काम इस मतलब के लिए राजनैतिक नहीं माना जाता है।

ऐसी गुत्थियों में उलझी हुई परिस्थिति में शुद्ध सार्वजनिक हित की दृष्टि से किसी भी काम को सफल बनाना बहुत मुश्किल हो गया है। संस्था चलाने वालों को यह ध्यान रखना ही पड़ेगा कि कहीं 'राजपक्ष' उनकी किसी हरकत से बुरा मानकर सहायता देना बन्द न कर दे और सहायता बन्द करने के लिए बहाना ढूँढना तो बहुत आसान है। और कोई वास्तव में ही "राजनैतिक" काम करने वाला हो तो उसके लिए तो धनपतियों से भी पैसा पा लेना बहुत ही मुश्किल मानना चाहिए। और यह काम कहीं सच्चे अर्थ में क्रान्तिकारी होगा, तब तो फिर कौन ऐसे भोले लोग होंगे जो उस क्रान्ति को नजदीक लाने को पैसा देंगे जो उनकी खुद की जड़ को उखाड़ देने वाली सिद्ध होगी? आम जनता की आर्थिक शक्ति वैसे भी बहुत कमजोर है और अपने हिस्से को राजकर चुकाने के बाद तो वह शक्ति और भी कम हो जाती है। तब भी किसी सच्चे जन संगठन के द्वारा होने वाले सच्चे जनहित के लिए पैसा आयेगा तो वह जनता से ही मुख्यतया आयेगा। संभवतः कुछ सज्जन दूसरे भी हो सकते हैं जो किसी प्रकार की अपेक्षा रखे बिना केवल जनहित की दृष्टि से पैसा निकाल कर दे दें। पर उस पैसे को आधार मानकर स्वतन्त्र कार्यकर्त्ताओं को कभी चलना नहीं चाहिए। उनके लिए तो सच्चा आधार सर्वसाधारण जनता के पास से थोड़ी थोड़ी मात्रा में आने वाला पैसा ही हो सकता है। 'दे' उसका भी भला और न दे उसका भी भला' यह भावना रखकर तो कार्यकर्त्ता को चलना ही होगा। इसलिए मौका देखकर वह किसी धनपति से भी निरपेक्ष सहायता की अपेक्षा रखना चाहे तो भले ही रखे। और आम जनता में से भी देंगे वही जो समझ वृद्ध कर देना चाहेंगे। मतलब यह है कि जनता पर भी टैक्स लगा देने का हक तो किसी कार्यकर्त्ता या संस्था को मिल नहीं जायगा। बाकी मेरा विश्वास है कि जनता अपनी शक्ति के अनुसार दिल खोलकर अपने हित के कामों की सहायता के लिए कुछ न

कुछ अवश्य देगी। और कण कण के रूप में आया हुआ वह "कुछ" ही सर्वसिद्धि का देने वाला सिद्ध होगा। जनता के उस कण में उसकी आत्मा की प्रेरणा होगी। उसकी भावना की शक्ति होगी और उनके हृदय की शुभकामना होगी। और कार्यकर्ता के लिए वह कण अमृत रूप में होगा, संजीवनी रूप होगा और उनके अन्तरात्मा को मुक्त और स्वतन्त्र रखने वाला नुस्खा होगा तथा उसके तप तेज को बढ़ाने वाला होगा। नवजीवन कुटीर और नवजीवन केन्द्रों की अर्थयोजना इस विचारवारा पर आवारित है और वह योजना यह है। स्वेच्छा से देने वाला जो कोई भी हो और जो कुछ भी वह देता हो, यदि वह बिना किसी शर्त के देता हो तो उसकी सहायता निश्चयपूर्वक ग्राह्य होगी। किसी समय उत्साह हो तो किसी घनपति से भी सहायता चाहना वर्जित रखने की कल्पना नहीं है। इसके अलावा मुख्य और पक्का आधार यह होगा कि जिस जनता की सेवा में लगे हो उसी जनता से थोड़ा थोड़ा लेना चाहिए। कार्यकर्ताओं को इस चिन्ता में नहीं पड़ना चाहिए कि बहुत थोड़ा सा पैसा आयेगा तो उससे कैसे काम चलेगा। वह थोड़ा ही असल में मोठा होगा। जनता को अपना काम कराना होगा तो वह ज्यादा भी देगी। जनता में चेतना और जागृति का प्राण संचार करने के लिए भी यह एक अच्छी तरकीब होगी और कार्यकर्ता को अपनी मर्दादा में रखने में यह योजना सहायक होगी। कुछ लोगों को छोड़कर आम तौर से कार्यकर्ता अपनी रोजी के लिए तो जनता से कुछ लेंगे ही नहीं और जो लेंगे वे किसी पदों की ओट में नहीं लेकर चीड़े दहाड़े सबको यह बताते हुए लेंगे। इसलिए असल में जो पैसा काम के लिए चाहिए, वही लिया जायेगा और काम में लगा दिया जायेगा। यह रास्ता बहुत कठिन तो होगा, पर सज्जनों के लिए सीधा और सही, यही एक रास्ता दिखायी देता है।

जनता के लिए

‘जनता’ शब्द का व्यवहार आजादी से किया जाता है। पर वास्तव में देखना पड़ेगा कि जनता माने कौन ? तमाम आवादी का आधा हिस्सा स्त्री समाज का है स्त्रियां भी अपने-अपने मजहबों, सम्प्रदायों, जातियों और वर्गों में बंटी हुई हैं, परन्तु उनका स्त्रीत्व उन्हें किसी हद तक एक जगह ले आ सकता है। विद्यार्थी समाज और युवक समाज भी बंटा हुआ सा है, पर वह विद्यार्थी काल में एक जगह मिला हुआ सा दिखायी देता है। विद्यार्थिकाल में जो ख्यालात होते हैं, वे बाद में बदल जाते हैं। किसान-मजदूर को हम लोग साथ ही बोलते हैं, पर खेत के किसान और कारखाने के मजदूर में समता के साथ-साथ वैषम्य भी कम नहीं है। जो अल्प-संख्यक माने जाते हैं वे अपने अपने मजहब के आधार पर तो अलग अलग हैं ही, इसके अलावा एक ही मजहब वालों में गरीब-अमीर का भेद भी पड़ा हुआ है। आदिवासी अपने आप में अलग हैं ही, पर उनमें भी जातियों के आधार पर भेद है। पिछड़ी जातियाँ अनेक हैं और आजकल तो लाभ की दृष्टि से बहुत से फिरके अपने आपको पिछड़ी जातियों में दर्ज कराना चाहते हैं। अकेले हरिजनों में भी भेदभाव की

कमी नहीं है। ब्राह्मण, राजपूत और वनिये पुराने द्विजाति हैं और उनमें मिलती जुलती कुछ-कुछ दूसरी जातियां भी हैं। उन सब जातियों की स्थिति कई प्रकार से समान है, पर वे एक दूसरे के नजदीक हों सो बात नहीं है। कहने को मध्यम वर्ग एक कहा जाता है, पर उसमें एकता कहाँ है ? जो लोग दिमाग से काम करते हैं अथवा जिनके बन्धे में 'शरीरश्रम' नहीं है यथा शिक्षक, लेखक, वकील, चिकित्सक, कलाकार आदि, उनमें एक प्रकार की समानता है, पर वे भी वास्तव में बँटे हुए हैं। पूँजीपतियों और उद्योगपतियों में व्यक्तिगत स्पर्धा भले ही बहुत हो, पर उनके समान हित उन्हें एक सूत्र में बंधे हुए रख सकते हैं।

ऐसी हालत में जनता का क्या अर्थ ? वैसे तो राष्ट्र के तमाम लोग एक ही माने जा सकते हैं और एक बड़ी हद तक उनकी देशभक्ति उन सबको एक जगह बाँध कर रखती है। लोग अपने मजहबी, साम्प्रदायिक, और जातीय जीवन में अपने २ संकुचित स्वार्थ और एक प्रकार की समानता तो जरूर रखते हैं। परन्तु इन बन्धनों को ढीला होकर समाप्त होना ही है। दो व्यक्तियों में वास्तविक भेद तो इस बात का हो सकता है कि एक साधन सम्पन्न है और दूसरा साधन विहीन। मुझे लगता है कि तमाम साधन सम्पन्न लोग अपने समान स्वार्थों के कारण आसानी से एक जगह आ सकते हैं, जब कि साधन हीन लोग इतने बिखरे हुए हैं कि उनका मिल जाना और संगठित हो जाना बहुत कठिन है। किसानों को ही लें तो उनमें जातिवाद का बहुत जोर है। अमुक जाति में कुछ जागृति हो गई है तो वह दूसरे किसानों को कब अपने नजदीक लेने को तैयार है ? हरिजनों में भी जाति का भेद बढ़ा हुआ है और जिस छुआछूत की शिकायत करते हैं उनमें आपस में ही वह छुआछूत कहाँ कम है ? शोषित होने के नाते शिक्षक, लेखक, कलाकार सब एक श्रेणी में आ जाते हैं, पर क्या वे दूसरे शोषितों के समान हैं ? जब हम साधन सम्पत्तियों की बात करते हैं तो उनमें पूँजीपतियों के अलावा राजसत्ता से सम्बन्धित बहुत लोगों को और ऊँचा वेतन पाने वाले राजकर्मचारियों को भी गिनना पड़ेगा। राजसत्ता से सम्बन्धित लोगों में बहुत से निर्धन हैं, पर वे अपने घुरे भले

सम्बन्ध के प्रभाव से दूसरे लोगों के मुकाबले में कुछ ज्यादा नफे में रहने की कोशिश कर लेते हैं। इसी प्रकार राजकर्मचारियों में से भी ज्यादातर की हालत कुछ अच्छी नहीं समझी जा सकती, पर वे येन केन प्रकारेण दूसरों की अपेक्षा कुछ ठीक रह ही लेते हैं और इसके अलावा नौकरी छूट जाने के डर के मारे वे जनता की ओर बढ़ने से डरते हैं।

असल में देखा जाय तो राष्ट्र के तमाम साधनों और राष्ट्र की तमाम जनता का समान समन्वय बैठना चाहिए। वह समन्वय बैठना इसलिए सम्भव नहीं है कि उपलब्ध साधनों के बंटवारे में एक तो पहले से भारी विषमता है और दूसरे जो लोग बंटवारा कराने की स्थिति में पहुँचते हैं उन्हें समान बंटवारा अपने खुद के हक में जाता हुआ नहीं मालूम होता है। विषमता का जिन पर अधिक से अधिक प्रतिकूल असर पड़ता है उनमें से भी कई लोग ऐसे निकल ही आते हैं जो व्यक्तिगत लाभ की खातिर अपने शोषितवर्ग के हित के विरुद्ध होने वाले कामों में सहयोग दे देते हैं। इस प्रकार निहित स्वार्थ वालों का एक नया और प्रच्छन्न गुट बन जाता है जो भीतर ही भीतर प्राप्त स्थिति को न बदलने के हक में काम करता है। इस गुट में ज्यादातर ये लोग शामिल हो जाते हैं जिनका अपने अपने हल्कों में कुछ प्रभाव माना जा सकता है। पिसने वाली जनता उन्हीं लोगों को अपना प्रतिनिधि बना देती है जो पिसाई को पक्की कायम कर देने में सहायता देने वाले होते हैं। और वे प्रतिनिधि ऊपर ऊपर से कुछ भलाई के काम करवा देते हुए दिखाई दे जाते हैं जो समाज में व्याप्त मूल बुराई को कहीं से भी छूते नहीं हैं। मूल की बात तो यह है कि तमाम नकशा बदले, लेकिन टहनी पत्तों की बातों से नकशा बदल नहीं सकता। जो वास्तव में जनता है उसका आम तौर से इतना शिक्षण प्रशिक्षण हो जाय कि वह गलत आदमी को प्रतिनिधि होने ही न दे। उक्त जनता अपनी शक्ति और अपने अधिकार को पहिचान ले और वह पहिचान ले उन लोगों को भी जो हैं तो उसके बीच में रहते हुए, पर कोई भी बड़ा परिवर्तन होने के पक्ष में नहीं हो सकते।

स्त्री समाज में नवजीवन

अपने देश के थोड़े हिस्से में स्त्री शिक्षा का व्यापक प्रचार है और देश का कुछ हिस्सा ऐसा भी है जहां घर के बाहर के लेनदेन आदि तक के काम मुख्यतया स्त्रियां ही करती हैं समाज के थोड़े हिस्से में और वह भी खास कर शहरों में स्त्री शिक्षा में और स्त्रियों द्वारा होने वाले सामाजिक काम में बढ़ती होती हुई सी दिखाई देती है। कार्यकर्ताओं की दृष्टि से देखा जाय तो स्त्रियों की संख्या नगण्य सी जान पड़ती है और सरकारी आदि कामों में भी स्त्रियों का प्रवेश बहुत कम ही हुआ समझा जा सकता है। कुछ घरों की स्त्रियां फैशनपरस्ती, मौज शौक सैर सपाटे में अपना बहुत सा समय लगाती हुई देखी जाती हैं तो कुछ घरों में स्त्रियों का समय बहुत कुछ बेकार में नष्ट होता हुआ पाया जाता है। निम्न मध्यम वर्ग की स्त्रियां जहां संभव होता है घर के काम-काज के अलावा थोड़ा बहुत समय किसी न किसी सहायक धंधे में लगाकर कुछ न कुछ कमाने की कोशिश करती हैं और उनमें थोड़ी बहुत पढ़ लिख जाती हैं उन्हें बरबस नौकरी की खोज करनी पड़ती है। छोटे कारीगरों और मजदूरों की स्त्रियां प्रायः पुरुषों की तरह काम करती हैं और किसानों की

स्त्रियों को आम तौर से खेत में काम करना ही पड़ता है। असल में देखा जाय तो किसान स्त्री पर सबसे ज्यादा कार्यभार पाया जायगा।

अपने यहां स्त्रियों के जीवन के बारे में साधारण कल्पना यह रही है कि वे किसी की पत्नी होने की और उसके साथ ही बच्चों की माता बनने की जिम्मेदारी संभालती रहें और इन दोनों कार्यों के अलावा सामाजिक रीति-रूढ़ियों को निभाने में अगुआ बनी रहें और थोड़ा बहुत हिस्सा पुरुषों के साथ धार्मिक कृत्यों में लेती रहें। स्त्रियों के लिए रोजगार या कमाई के किसी काम में लगना पुरानी भारतीय भावना के अनुकूल नहीं जान पड़ता। स्त्रियों की ऐसे घन्वे में लगना पड़ता है तो उस स्थिति को सम्मानपूर्ण न समझने का आग्रह आज भी जड़ पकड़े हुए पाया जाता है। परन्तु एक और आर्थिक संकट के कारण और दूसरी ओर स्त्रियों की घर के बाहर का काम करने की बढ़ती हुई प्रवृत्ति के कारण स्त्री समाज का घर की चहार दीवारी के भीतर बनी रहने का रिवाज शिथिल पड़ता जा रहा है। स्त्री समाज की इन विभिन्न अवस्थाओं के बीच में जिन मोटी बातों का असर प्रेक्षकों पर फौरन और ज्यादा पड़ता है वे हैं स्त्रियों का अशिक्षा और अज्ञानांधकार में पड़े रहना तथा किसी हद तक उनका निठल्लापन और ज्यादातर उनका अत्याधिक कार्यभार से दबे रहना।

अपनी समाज व्यवस्था में घर चलाने का काम भी मामूली काम नहीं है। पुरुष जो कुछ कमा कर घर में लाता है उसका सदुपयोग दुरुपयोग करने का जिम्मा गृहलक्ष्मी पर ही आता है। इस काम को न तो हीन मानना चाहिए और न है यह काम निरर्थक। घर चलाने के काम में स्त्री को पुरुष का भी थोड़ा बहुत सहयोग मिल सकता है। पर प्रकृति की एक लीला मुझे बड़ी विचित्र लगती है कि मातृत्व की जिम्मेदारी अकेली स्त्री को हीं उठानी पड़ती है। बच्चे की पैदाइश से पहले और उसके बाद में भी माता को एक भारी बोझा उठाना पड़ता है जिसमें पुरुष का हिस्सा नाम मात्र का ही होता आया है। घर घन्वे में और बच्चों को रखने के काम में तो पुरुष को हिस्सा बंटाना ही पड़े, बाकी विज्ञान के किसी चमत्कार से प्रकृति को इस बात पर राजी कर लिया जाय

कि मातृत्व का भार भी स्त्री और पुरुष को बारी बारी से उठाना पड़े तो बड़े मजे की बात हो जाय । घर का काम काज और बच्चों का लालन पालन तथा शिक्षण पोषण अच्छी तरह से किया जाय तो उसके बाद वास्तव में स्त्री के पास बहुत कम समय बचेगा जिसमें वह कोई दूसरे काम कर सके । मजबूर होकर स्त्री को रोजी कमाने के बन्वे में लगना पड़ेगा तो उस हद तक उसके अपने दोनों कामों में जरूर कमी पड़ेगी । और उसके अलावा स्त्री से सामाजिक कामों की अपेक्षा रखी जायगी तो उसकी स्थिति और भी कठिन हो जायगी । जो पुरुष केवल रोजगार के लिए कीई सा सफल काम करते हैं तो उन्हें कहां अच्छी फुरसत मिल पाती है दूसरे काम करने की ? इस प्रकार बन्वों में लगे हुए पुरुष ही मामूली तीर पर अज्ञान में फंसे हुए दिखायी देते हैं । तो फिर स्त्री के पास कौनसा जादू हो जायगा कि वह अकेली दुनियां भर के तमाम काम कर डालेगी ? इस बहस पर से नयी समाज रचना का सवाल खड़ा हो जाता है । अपने यहां तो स्त्री को अभिन्न जोड़े के रूप में देखा गया है और स्त्री के मुकाबले में पुरुष को, और पुरुष के मुकाबले में स्त्री को देखने का झंझट इस देश में पहले नहीं था । पर आज तो कर्तव्य की अपेक्षा अधिकार पर ज्यादा जोर देने का जमाना आ गया है और ऐसी परिस्थितियां पैदा हो गयी हैं जिनमें स्त्री को अपने संरक्षण की दृष्टि से भी सोचना पड़ ही रहा है । इन सब बातों का प्रतिकूल असर देश की परम्परागत परिवार व्यवस्था पर पड़ने ही वाला है । पर वह बड़ा विषय है और उसका प्रतिपादन करना इस लेख की मर्यादा के बाहर है ।

इस लेख में तो आज के संक्रमण काल में स्त्री समाज की अवस्था का का जरा सा दिग्दर्शन कराना था और यह बताना था कि जैसी परिस्थिति स्त्री समाज के सामने है उसमें भी उसे अपने नागरिक कर्तव्यों का पालन और अधिकारों का उपयोग करने की योग्यता तो पैदा करनी ही पड़ेगी और करनी ही चाहिए । इसके लिए कुछ स्त्रियों को आगे बढ़कर कार्यक्षेत्र में आना ही पड़ेगा । क्योंकि जो अवस्था है उसमें पुरुष कार्यकर्ता स्त्री समाज में बहुत

फंसी हुई सी हैं, वे जानती बहुत कम हैं, उनकी दिलचस्पी बहुत सीमित है और इसलिए उन्हें गुफा में से निकालकर बाहर लाना बड़ा मुश्किल होगा। अपने यहां तो ज्यादातर पुरुषों का भी ऐसा ही हाल अभी तक बना हुआ है कि उन्हें समझाकर उनकी सिंह की सी अपनी स्थिति और शक्ति बताना देना आसान नहीं माना जा सकता, तो फिर स्त्रियों की तो बात ही क्या? लेकिन इस परिस्थिति से डरने घबराने की बात नहीं है। इससे प्रेरणा पाकर तो हमें ज्यादा उत्साह और आग्रह के साथ स्त्री समाज में और उसके लिए काम करना पड़ेगा। अपने यहां की ग्राम सभाओं में स्त्रियों की उपस्थिति किन्हीं खास खास मौकों के अलावा तो होती ही नहीं है और खास मौकों पर भी कितनी सी होती है? जो पुरुष कार्यकर्त्ता कहलाते हैं उनके घरों में भी ज्यादातर बेहाल सा ही सुनने देखने में आता है। इसलिए स्त्रियों में प्रादेशिकता का प्रसार होना आवश्यक है और साथ ही साथ उन्हें नया ज्ञान भी मिल ही जाना चाहिए। स्त्रियों की लगन में कमी नहीं होगी। एक बार उनकी समझ में आ जाय कि उन्हें अमुक काम करना ही है तो फिर वे पीछे रहने की अपेक्षा आगे ही ज्यादा रहने वाली हैं। नवजीवन केन्द्रों को स्त्री समाज की जागृति का काम खास तौर से हाथ में लेना होगा। प्राई महिलाओं को पढ़ाना लिखाना एक प्रारम्भिक जरिया हो सकता है और स्त्रियों के लिए आवश्यकतानुसार तथा सुविधानुसार सहायक घन्वों की कुछ व्यवस्था करना दूसरा जरिया हो सकता है पर दोनों ही जरियों में नवजीवन की भावना तो रहनी ही चाहिए। उसके बिना ऐसा कोई सा काम भी जड़ता को नष्ट करने में सफल नहीं हो सकता। और जब तक जड़ता है तब तक नवजीवन या जीवन भी कहां? स्त्रियों का ग्राम सभाओं में आना जरूरी है और अलग से स्त्रियों की सभाएं भी होनी चाहिए। किसी स्थान में एक स्त्री कार्यकर्त्ता जरा सा बीड़ा उठा लेगी तो उसके जरिये से नवजीवन का शिक्षणात्मक कार्यक्रम स्थानीय स्त्रियों में चलाया जा सकेगा। औपधि का और सहायक घन्वे का प्रत्यक्ष सेवा का कार्यक्रम भी चालू हो सकता है और कोई जन आन्दोलन छिड़ जाय तो उसमें तो स्त्रियां जरूर ही कमाल का हिस्सा ले सकती हैं। स्त्री शक्तिपुंज होती है और उसका प्रभाव अमर्यादित एवं अदम्य होता है। स्त्रियों के सक्रिय सहयोग

के बिना समाज की नयी रचना मुझे तो अशक्य लगती है। समाज की इस प्रसुप्त शक्ति को जगाना ही पड़ेगा और उस शक्ति को अपना चमत्कार दिखाना ही पड़ेगा। इस काम के लिए शिक्षित वहिनों की जिम्मेदारी बहुत ज्यादा है और वे इस काम को हाथ में ले लें तो यह उनके लिए उतना मुश्किल भी नहीं होगा। शिक्षण संस्थाएं भी इस काम में सहयोग दे सकती हैं, पर उनकी मर्यादाएं उनके मार्ग में अवश्य बाधक होती हैं। स्थिरता की पक्षपातिनी राजव्यवस्था के सहयोग से चलने वाली शिक्षा संस्थाओं का क्रान्तिकारी होना तो दूर स्वतन्त्र बने रहना ही मुश्किल होता है। फिर भी जहां प्रबल इच्छा होगी, वहां तो मार्ग भी मिलेगा ही सही। नवजीवन केन्द्रों को जिस प्रकार हो सके उसी प्रकार स्त्री समाज में काम करना होगा।

है। कालेजों में तो विद्यार्थियों की बेकारी और ज्यादा है और उस बेकारी का परिणाम भी हमारे सामने रोज बरोज आता रहता है। कितनी शिकायतें विद्यार्थी वर्ग की आ रही हैं? विद्यार्थी में शील नहीं है, विनय नहीं है, अनुशासन नहीं है? उसमें शैकीनी है, उसमें खर्चीलापन है, उसमें क्रिया-शून्यता है? क्या विद्यार्थी खुद ही इन बातों के लिए जिम्मेदार हैं? मुझे ऐसा नहीं लगता। वर्तमान समाज का ढांचा, वर्तमान शिक्षा प्रणाली, आजकल का शिक्षक वर्ग इन सब पर विद्यार्थीवर्ग की मौजूदा स्थिति का जिम्मा मुझे ज्यादा दिखाया देता है। शिक्षकों को वेतनादि की शिकायत है। इसलिये वे आमदनी बढ़ाने के दूसरे जरिये अपनाते हैं। परीक्षक बन कर, पुस्तक लेखक बन कर, ट्यूशन करके, परीक्षार्थियों को पास-फेल होने का प्रसाद देकर वे दूसरे कर्मचारियों की भांति सुख से जीवन निर्वाह करने के साधन जुटाने की कोशिश करते हैं। इस प्रकार शिक्षण संस्थाएं और विश्वविद्यालय दलबन्दी के अखाड़े बन जाते हैं। शिक्षकों की और संस्थाओं की इस हालत के लिए शिक्षा प्रणाली जिम्मेदार है, और शिक्षा प्रणाली के लिए समाज व्यवस्था के लिए शासक दल को निभाने का या उसका निपटारा कर डालने का भार जनता पर है और जनता को जागृत करके ठीक रास्ता दिखाने का काम निःस्वार्थ कार्यकर्त्ताओं का है।

कार्यकर्त्ताओं को जनता की नवचेतना के लिए कई एक काम करने हैं। उन्हें जो कुछ विद्यार्थी वर्ग के लिए करना है वह किसी भी काम से कम महत्व का नहीं है। विद्यार्थियों के सामने कई प्रकार की व्यक्तिगत कठिनाइयां आती रहती हैं। उन कठिनाइयों में विद्यार्थियों की सहायता करना, कम से कम उनके साथ सहानुभूति रखना अपने आप में एक अच्छा काम है। विद्यार्थियों को पढ़ाई के साथ साथ किसी उपयोगी काम में लगाना उनके लिए काफी लाभदायक साबित हो सकता है। विद्यार्थियों को व्यायामशालाओं में और खेल के मैदानों में व्यायाम और खेल के साथ आत्मरक्षा की विद्या सिखाना बड़ा आवश्यक है। ऐसे विद्यार्थियों को और दूसरे युवकों को भी स्वयंसेवक दलों के रूप में संगठित करना नयी समाज रचना के काम के लिए बहुत

हितकारक हो सकता है। विद्यार्थी वर्ग में परीक्षाओं के लिए पढ़ने के अलावा बाहरी जानकारी हासिल करने की रुचि पैदा करना अनिवार्य है। लोकशिक्षण का जो काम कार्यकर्त्ताओं के लिए करना है और दूसरे नागरिकों के लिये करना है, वही काम विद्यार्थियों के लिये तो और भी ज्यादा आग्रह के साथ करने का है। विद्यार्थियों और युवकों को अतीत वर्तमान और भविष्य के सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक मामलों का ज्ञान होना ही चाहिए। और वे लोग उस ज्ञान के बहुत अच्छे प्रचारक भी बन सकते हैं। मैं महसूस करता हूँ कि नयी समाज रचना के काम में जैसे आम जनता का योगदान होगा वैसे ही विद्यार्थीवर्ग का योगदान भी होना चाहिए और होगा। जब नया प्रवाह सचमुच शुरू होगा तो स्पष्ट है कि बहुत सी साधारण मर्यादाएं टूट जायेंगी। जिनके हाथ में सत्ता होती है वे विद्यार्थियों को अपने समर्थन के सब कामों में हिस्सा लेने के लिए प्रोत्साहन देते हैं और विपक्ष के किसी भी काम में शामिल होने के लिए मना करते हैं। अंग्रेजों के जमाने में ऐसा बहुत होता था। आज उससे कम होता हो सो बात नहीं है। आज वैसा करने के लिए जाहिरा वहाना ज्यादा है।

केन्द्र और राज्यों के शिक्षा मन्त्रालय पुरानी पटरी पर चल रहे हैं। कभी-कभी धूमधाम के साथ किसी प्रकार के अन्वेषण की चर्चा सुनने को मिलती है। पर उस सब का नतीजा कुछ नहीं होता। असल में नतीजा हो सकता ही नहीं। वर्तमान वातावरण में अच्छी स्वतन्त्र शिक्षण संस्थाओं का जीवन कष्ट में ही नहीं बल्कि संकट में बीत रहा है। मुझे लगने लगा है कि वे जिन्दा रहने की कोशिश न करें तो शायद अच्छा हो। आज की इस हवा में इक्की-दुक्की शिक्षण संस्थाएं क्या कर सकती हैं? उनका प्रयास का अमृत भी चारों ओर के विषमय समुद्र में मिलकर विषत्व के निकट पहुँच जाता है। गांधीजी ने स्कूल कालेजों तक के मामले में असहयोग करने का आंदोलन ठीक ही चलाया था। पर मुश्किल यही है कि इतनी बड़ी भारी शक्ति को विश्रृंखल करके उसे नयी रचना के मार्ग में प्रवृत्त करने का भार कौन उठावे? यह काम ऐसी वैसी हस्ती का नहीं हो सकता। उसके लिए मीका भी जब आवे तब

आवे और उस मौके की पहिचान भी जिस किसी को हो सके उसीको हो और उस मौके का सही उपयोग भी जो कर सके सो ही करे। इसलिए साधारण स्थिति के लोगों को तो साधारण रीति से काम करते हुए ही विद्यार्थी वर्ग में क्रान्तिकारी विचार बारा का प्रचार करना पड़ेगा। बीरज से किया हुआ वह प्रचार मौका आने पर अच्छा काम देगा।

सबसे बड़ी मुसीबत यह है कि कुछ काम करने की क्षमता के साथ ही विद्यार्थी युवक को घर को जिम्मेदारी की याद सताने लगती है। वह याद उसके तमाम जोश को ठंडा कर देने वाली साबित होती है। उसे जहां-तहां कहीं भी अपने आपको विक्री के लिए पेश करना ही पड़ता है। और ज्यादातर तो उसे सस्ते दामों में विकना पड़ता है और तब तो इससे भी ज्यादा उसे एक थकाने वाले अर्से तक बिना विके भी रह जाना पड़ता है। विक जाने की कोशिश और आशा उसे किसी दूसरी तरफ भी लगने नहीं देती। पर क्रमशः ऐसे अनचाहे होनहारों की संख्या में बढ़ती होती जा रही है। इस हिसाब से एक दिन ऐसा आ ही सकता है कि यह फौज इकट्ठी होकर किसी न किसी किले पर घावा बोल दे। और फिर ऐसे घावों की कई मौकों पर कई किलों से टक्कर होने लग जाय ! जो स्थिति लड़कों की है वही लड़कियों की भी होने जा रही है। बहुत सी लड़कियों और उनके घर वालों के लिये विवाह की समस्या विकट हो रही है। पढ़ने वाले लड़कों और लड़कियों के अलावा भी युवकों का एक समूह है जिसके सामने उपयोगी और रोजी देने वाला काम नहीं है।

यह तमाम शक्ति व्याकुलता से तिलमिलाती हुई सी दिखाई देती है। ऐसे लोगों की कुछ सहायता कर सकना, एक बड़ा काम है। इस काम को वे लोग खुद ही कर सकते हैं, और दूसरे उसके सहायक हो सकते हैं, उन्हें प्रेरणा दे सकते हैं। बहरहाल समाज के इन क्रान्तिकारी तत्वों का नया समाज रचना के हक में उपयोग होना है। यही मुझे विद्यार्थी वर्ग और युवक वर्ग के लिये कहना है।

Wzi
L0
— — —
५५६०

किसान मजदूर और मध्यमवर्ग

बोलचाल में किसान मजदूर का स्वाभाविक जोड़ा सा लगता है। ज्यादातर मजदूर गांवों से और खेतों से निकल कर शहरों और मिलों में पहुँचे हुए किसान ही हैं, ऐसा समझा जा सकता है। साधारणतया किसान कच्चा माल पैदा करने वाला और मजदूर कच्चे माल से पक्का माल पैदा करने वाला होता है। इस प्रकार राष्ट्र की तमाम पैदावार किसान और मजदूर की मेहनत की देन है। गांवों में बिना जमीन के बहुत से लोग हैं जिन्हें खेतों पर मजदूर के तौर पर दूसरों का काम करना पड़ता है। इधर उधर विविध प्रकार के काम करने वाले मजदूर भी हैं जिनमें से ज्यादातर का निकास गांवों से हुआ मालूम होता है। किसान मजदूर की बहुत सी समानता के बावजूद दोनों की परिस्थितियों में अनेक प्रकार की विभिन्नता है। खासतौर से मिल मजदूर और दूसरे शहरी मजदूर भी बहुधा एक ही स्थान पर अथवा एक सीमित क्षेत्र में काम करते हैं। इसलिए उनका मिलना जुलना और संगठित हो जाना आसान होता है। मजदूरी का पैसा अधिक समय तक न मिलने से मजदूर को भी परेशान हो जाना पड़े, पर वह कुछ समय काम छोड़ कर निकाल सकता है और इस

प्रकार दूसरों को भुका लेने का एक हद तक सामर्थ्य रखता है। किसान विखरा हुआ बसता है और उसके काम की प्रकृति ऐसी है कि उसे वह थोड़े समय के लिए भी छोड़ नहीं सकता और कहीं छोड़ने जाय तो उसे खुद को ही सबसे पहले ज्यादा नुकसान का सामना करना पड़े। वह लगान बन्द करके जिस दूसरे पक्ष को भुकाना चाहे वह पक्ष संयोग से खुद सरकार का होता है, जबकि मजदूर मिल मालिक के संघर्ष में सरकार की एक प्रकार से पंच का सा काम करने की स्थिति बन जाया करती है।

नये जमाने की क्रान्ति मजदूर की ताकत से हुई समझी जाती है और यह खयाल भी किया जाता है कि पुराणपन्थी और धीमी चाल से चलने वाला होने के कारण किसान में क्रान्ति का तत्व कम होता है। यह जो कुछ भी हो, पर यह पक्की बात है कि किसी भी बड़े देश में जहां पर गांव ज्यादा हैं और जहां किसानों की बस्ती ज्यादा है वहां पर किसानों के हिस्सा लिए बिना कोई बड़ा परिवर्तन नहीं हो सकता। इसलिए जैसे मजदूरों को वैसे किसानों को भी संगठित होना ही पड़ेगा और संगठित होने से किसानों की शक्ति अजेय हो सकती है। मजदूरों को और किसानों को मिलकर एक साथ भी ताकत लगानी पड़ेगी और उन दोनों के हितों में कहीं कुछ विरोध सा दिखायी देता होगा तो उसका समाधान भी करना पड़ेगा। संगठन के मामले में मजदूर आगे बढ़े हुए हैं और उनके लिए समय-समय पर कानून भी बनते रहें हैं जिनसे मदद मिल जाती है। किसान अधिकतर असंगठित है या वह थोड़ा बहुत किसी दूसरे संगठनों में फंसा हुआ सा है जहां उसकी आवाज की अलग से कोई कीमत नहीं होती है। सरकार और किसान के बीच के वर्ग का लोप प्रायः होता हुआ सा दिखायी देता है परन्तु गरीब और साधनहीन किसान का शोषण करने वाले बीच के लोग किसी न किसी रूप में और काफी तादाद में बने रहेंगे, यह अन्देशा पक्का है। पर किसान की मजदूरी कहीं ज्यादा मालूम पड़ती है कि उसके पास अपनी कही जाने वाली जमीन नहीं होगी तो वह किसी दूसरे से जमीन लेकर उसे काम में लेगा और एवज में अपनी मेहनत का बहुत सा फल उस

दूसरे को इसे दे देना पड़ेगा । और यह भी नहीं होगा तो उसे किसी भी जमीन पर मजदूर की हैसियत से ही काम करके जिन्दगी बसर करनी पड़ेगी ।

जाति और शायद मजहब भी मजदूर के संगठन में बाधक नहीं होता । पर विभिन्न जातियों का होना किसान को संगठित होने से किसी हद तक जरूर रोकता है । यह भी देखा गया है कि एक जाति विशेष के किसान जाग्रत और संगठित होकर दूसरे किसानों पर हावी हो जाते हैं । जातियों में ऊँच नीच का भेद भी घुसा हुआ है । एक ओर ब्राह्मण, राजपूत और बनिये खेती का काम करते हुए भी प्रायः पूरे पक्के किसान से नहीं लगेंगे, तो दूसरे ओर हरिजन किसानों को किसान का दर्जा देने से दूसरे लोग इन्कार करेंगे । और जो जातियाँ साफ़तौर से किसान जातियाँ हैं और जिनमें सब तरह से समानता है उन्हें भी जातिभेद बहुत सताता रहता है । इसके अलावा कुछ किसानों के पास जमीन ज्यादा है और उनकी माली हालत भी दूसरों की अपेक्षा अच्छी है, ऐसे किसान अपने से कम भाग्यशाली किसानों को चूसने वाले बन जाते हैं और वे उनके साथ वैसा ही व्यवहार करते हैं जैसा कोई मिला हुआ जागीरदार बोहरा करता हो । और किसानों में काम करने वाली सरकारी एजेन्सियों से, सत्ताधारी लोगों से, और वे किसानों में काम करने वाली दूसरी पार्टियों के लोगों तक से गठबन्धन कर लेते हैं । निर्धन और निर्बल किसान के लिए यह विशेष परिस्थिति बड़ी घातक सिद्ध होती है, वह बेचारा समुद्र में रहता हुआ मगर-मच्छ से बैर मोल नहीं ले सकता । ऐसी हालत में गरीब किसान समूह को राहत पहुँचाने की और उसकी हिम्मत बढ़ाने की सख्त जरूरत है ।

मजदूर और किसान का एक मोर्चा तो बनाना ही होगा, पर साथ में मध्यम वर्ग को भी नहीं भूला जा सकता । मध्यम वर्ग और किसान मजदूर के बीचकी खाई अपने आप से भी पटती हुई सी नजर आरही है । मध्यम वर्ग का ज्यादातर हिस्सा गरीबों की तरफ फिसलता हुआ देखा जा सकता है और उसका एक बहुत थोड़ा सा हिस्सा शायद ऊपर की ओर भी जा रहा हो ? अधिकतर मध्यम वर्ग को जीविका के लिए किसानों, मजदूरों या कारीगरों की ओर जाना ही पड़ेगा, भले ही उसमें से कुछ लोग वद्विजीवी बन सकते हैं ।

मय वृद्धि जीवी लोगों के ज्यादातर मध्यम वर्ग को किसान मजदूर के साथ मिल कर मोर्चा लेना पड़ेगा । नये समाज में जाति के आधार पर वर्गीकरण न होकर काम और साधन के आधार पर होगा । किसी भी जाति के हों और चाहे वे मध्यम वर्ग और किसानों में से ही हों, एक तरफ होंगे साधन संपन्न लोग जो दूसरे शोषकों के साथ मिल कर अपने अपने दायरों की कमाई खाने वाले होंगे और दूसरी तरफ होगा एक विशाल जन समूह जिसकी समानता का मापदण्ड गरीबी होगी । वह जन समूह अपनी जाति को भूल जायेगा । ब्राह्मण, राजपूत, बनिया, जाट, गूजर, अहीर, कुम्हार, हरिजन, मुसलमान, सिक्ख, आदि आदि सभी लोगों का एक वर्ग बनता जा रहा है । जिसका भगड़ा होगा साधन सम्पन्न वर्ग से जिसमें उसी मजहब और उसी जाति के लोग भले ही हों !



अल्पसंख्यकों के विषय में

भारत में मुसलमान, सिक्ख, ईसाई और पारसी आदि अल्पसंख्यक गिने जाते हैं। पारसी बहुत थोड़े हैं और उनकी तरफ की कोई समस्या नहीं है। न उनसे किसी को शिकायत है और न किसी से उनको शिकायत है। ईसाई भी देश के ज्यादातर हिस्सों में थोड़े हैं। पर जहाँ वे कुछ ज्यादा हैं वहाँ पर किसी न किसी रूप में उनकी समस्या भी सुनी जाती है। विदेशों से आये हुए ईसाई धर्म प्रचारक लोग शिक्षा, चिकित्सा आदि का काम करते हैं और वे इस देश के रहने वाले लोगों में से किन्हीं किस्म के लोगों का धर्म परिवर्तन भी करते रहे हैं। धर्म परिवर्तन की यह शिकायत इन दिनों ज्यादा बढ़ी हुई मालूम होती है। सिक्खों की ओर से भी सवाल खड़े होते रहते हैं। पर शायद उनमें आपस की एकता न होने से भी उनके सवाल उतना जोर नहीं पकड़ पाते। थोड़े से एंग्लोइंडियन भी हैं पर उनकी भी कोई समस्या जैसी नहीं है। अल्पसंख्यकों में मुख्य स्थान मुसलमानों का है। सैकड़ों बरसों तक मुसलमान बादशाहों ने हिन्दुस्तान में राज किया। इसलिए सत्तावीशों से सम्बन्धित होने से मुसलमानों की अमुक प्रकार की मनोदशा बन गयी। फिर

भी कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि हिन्दू मुसलमान में पहले कोई विशेष वैमनस्य नहीं बढ़ा था। १८५७ में सभी लोगों ने मिलकर काम किया था। पर बाद में अंग्रेजों की भेद नीति के कारण हिन्दू-मुस्लिम समस्या बढ़ती ही गयी। देश की स्वाधीनता के लिए आवाज उठाने वालों में स्वभावतः हिन्दू ही खास थे और ज्यादा भी थे। अंग्रेजों ने हिन्दुओं के मुकाबले में मुसलमानों को रियायतें देकर अपनाया। मुसलमान अपने लिए विशेष अधिकारों की मांग रखते ही रहे और अंग्रेज उन्हें पुचकारते ही रहे। अंग्रेजों के जमाने में हिन्दू मुस्लिम भगड़े भी होने ही रहे। इसलिए नतीजा यह हुआ कि मुसलमानों ने अपने आपको हिन्दुओं से दूर हटा हुआ और अंग्रेजों के नजदीक पहुंचा हुआ पाया। गांधीजी के प्रयत्नों से एक बार ऐसा लगने लगा था कि हिन्दू-मुस्लिम एकता स्थापित हो गयी है और अब दोनों मिलकर अंग्रेजों का मुकाबला करेंगे।

पर वह स्थिति कायम नहीं रही। बहुत थोड़े से लोगों को छोड़कर बाकी मुसलमान राष्ट्रीय मंच से दूर ही रहे और उनके नेताओं ने उनका अलग संगठन खड़ा किया। हिन्दुओं के विरुद्ध विपैला वातावरण बना दिया गया कि उनके पड़ोस में मुसलमान किसी भी तरह सुरक्षित नहीं रह सकते। हिन्दुओं की तरफ इन बातों की बहुत बुरी प्रतिक्रिया हुई और हिन्दू लोग यह समझने लगे कि मुसलमान हर तरह से ज्यादा करने वाले लोग हैं। यह मामला बहुत बढ़ गया और आखिर देश के दो टुकड़े होकर रहे। उससे पहले और बाद में भयंकर मारकाट भी हुई। देश के एक टुकड़े से बहुत ज्यादा हिन्दू दूसरे टुकड़े में चले आये और दूसरे टुकड़े के कुछ मुसलमान भी पहले टुकड़े में पहुंचे। इधर आये हुए हिन्दुओं के और उनके कारण दूसरे हिन्दुओं के मन में भयंकर विकार पैदा हो गया और जो मुसलमान इधर ही बने रहे उनके चित्त में एक प्रकार का डर बैठ गया। दूसरी तरफ (खासकर पश्चिमी हिस्से में) तो हिन्दू करीब-करीब रहे ही नहीं और पूर्वी हिस्से से हिन्दुओं का निकास बंद हो गया हो सो बात नहीं है। ग्राम तौर पर हिन्दू हल्कों में मुसलमानों को विश्वास की निगाह से नहीं देखा जाना है और हिन्दुस्तान में रहने वाले मुसलमान भले ही मजे में ही होंगे पर दूसरी तरफ वाले मुसलमानों

ने यह कहना बंद नहीं किया है कि हिन्दुस्तान में मुसलमानों पर अत्याचार किये जा रहे हैं।

हिन्दुस्तान के शासन के सूत्रधारों ने मुसलमानों के साथ अच्छा से अच्छा व्यवहार किया है। इस देश के अधिकतर लोगों का यह मानना है कि इस सम्बन्ध में अति की जा रही है और मुसलमानों के साथ न्याय से बढ़ कर पक्षपात किया जा रहा है। पिछली सत्ता के साथ लगे रह कर मुस्लिम नेता संभ्रम कर सकते हैं कि नफे में रहे और आज की सत्ता के सहारे पर भी कुछ मुसलमानों के लिए फायदे की सूरत बनी हुई हो सकती है। ऐसी हालत में संतापीश कुछ मुसलमानों को फायदा बताकर उनके प्रभाव को मुस्लिम जनता की मदद से अपनी सत्ता को कायम रखने में आसानी से ले ही सकते हैं। पर संवाल यह है कि साधनहीन मुस्लिम जनता को इससे कौन सा काम हिन्दुस्तान में बनता है? और अदेश तो यह भी हो सकता है कि सरहद के दूसरी तरफ भी साधनहीन जनता को तो कुछ मिल नहीं रहा होगा। दूसरी तरफ जो कुछ भी हो पर अपने यहां साधनहीन हिन्दुओं का और साधनहीन मुसलमानों का कर्त्तव्य स्पष्ट है। यदि गरीब जनता के लिए जातिवाद बुरी चीज है तो उसके लिए सम्प्रदायवाद और भी ज्यादा बुरी चीज है। जाति के नाम से साधन सम्पन्न लोग भोले सजातियों का शोषण सहज ही कर लेते हैं। उसी तरह मजहब के नाम पर भी साधनहीनों का शोषण ही होता है। भारत को अब ब्राह्मण, राजपूत, बनिये आदि का और हिन्दू-मुस्लिम का भेद नहीं चाहिए। जो जिस जाति और जिस मजहब का होगा सो होगा। वह साधन सम्पन्न बनकर और सत्तारूढ़ होकर अपनी जाति और अपने मजहब वालों के लिए क्या विशेष बात कर देगा? पुरानी जाति और पुराने मजहब का क्षेत्र तो सीमित होता जा रहा है। किन्हीं सामाजिक कामों के लिए जाति का और अमुक-अमुक प्रकार की पूजा उपासना के लिए मजहब का उपयोग होगा सो होगा पर एक ही जाति में और एक ही मजहब में साधन होने या न होने के आधार पर कम से कम दो वर्ग तो बन ही जाते हैं। फिर सब जाति और सब मजहबों के साधन वाले एक तरफ और बिना साधन वाले दूसरी तरफ! जो अल्पसंख्यक माने जाते हैं उनके समझने की यही एक बात है। मुसलमानों

को खासतौर से यह रहस्य समझना होगा, भले ही शुरू में उन्हें ऐसा समझना मुश्किल मालूम पड़े। जो कार्यकर्ता साथी हैं उन्हें बिना किसी भेदभाव के साधनहीन मुस्लिम जनता के साथ सम्पर्क स्थापित करना चाहिए उनका हमें नयी रोशनी के द्वारा शिक्षण करना चाहिए, उसकी सेवा करनी चाहिए और उसे एक साथ मिलकर फरियाद-आंदोलन करना सिखाना चाहिए। जनता के दूसरे लोगों को भी चाहिए कि वे तथाकथित अल्पसंख्यकों के साथ इस आधार पर भाईचारा स्थापित करें और वे यह पहचानें कि उनका मूल मजहब और जाति दोनों ही किसी और काम के भले ही होंगे पर नये जमाने में उनको पूरे संगठन की ताकत देने वाली सभी विरादरी उन लोगों की होगी जो समानरूप से साधनहीन हैं और शोषित हैं। इस दृष्टि से ग्राम जनता के बीच काम करने की पुकार आज के जमाने की पुकार है। तमाम जनता को गरीब के आधार पर उसका महत्व समझाया जा सके तो फिर जनता का कोईसा भी हिस्सा किसी के द्वारा भी और घाँस लालच आदि किसी जरिये से गुमराह नहीं किया जा सकेगा।

हरिजनों के विषय में

प्राचीन भारत में एक सुन्दर वर्ण व्यवस्था थी। उक्त वर्ण व्यवस्था में शरीर श्रम को ऊँचा स्थान नहीं था। इसके अलावा उस वर्ण व्यवस्था के विषय में बहुत कुछ कहा जा सकता है। प्रत्येक वर्ण का काम प्रत्यक्ष कर्म की अपेक्षा वंश परम्परा से निश्चित होने लगा तब वर्णों का स्थान जातियों ने लेना शुरू कर दिया और जातियों में ऊँच नीच का भेद पैदा हो गया। और इसी भेदभाव में से अस्पृश्यता का जन्म भी हो गया। छुआछूत के मामले आज भी देश में असंख्य लोग बड़े कट्टर हैं। इसके मुकाबले में यह बताया और माना गया है कि हिन्दुस्तान के लिए अस्पृश्यता एक कलंक के रूप में है। समाज सुधारक छुआछूत के विरुद्ध अपनी आवाज उठाते रहे हैं। पर गांधीजी ने इस बुराई को मिटाने के लिए अपनी शक्ति पूरे तौर पर लगाई। एक बार हरिजन समस्या को लेकर अंग्रेजों की करामात से हिन्दुस्तान का अंगभंग होने को हुआ तो गांधीजी ने अपनी जान की बाजी लगा दी। हरिजनों के हित साधन के लिए संस्थाएँ बनीं और छुआछूत को समाप्त करने के लिए प्रचार किया गया और अग्रगामी लोगों ने अपने व्यवहार में से छुआछूत को निकाल दिया। देश के संविधान में छुआछूत जैसी चीजों को मान्यता नहीं मिली। पर पिछड़ी जातियों को विशेष संरक्षण देना जरूरी समझा गया।

छुआछूत की बीमारी कई प्रकार से व्यापक हो रही है। जो लोग वार्षिक दृष्टि से कट्टर हैं वे छुआछूत के मिटाने में धर्म की हानि समझते हैं। दूसरे लोग भी उनका अंधानुकरण करते हैं। छुआछूत का एक आवार हरिजनों के कुछ घंघों में भी पाया जाता है। इसलिए कुछ हरिजन अपने घंघे को न करने का विचार करने लगते हैं। वह घंघा होना जरूरी है। इसलिए सम्बन्धित हरिजनों और दूसरों के बीच में झगड़े होने लगते हैं। गरीबी की वजह से हरिजन लोग भोजों में अच्छी मिठाई आदि भी नहीं बना पाते थे। इस पर से एक रिवाज सा ही पड़ गया कि हरिजन अमुक प्रकार के जेवर न पहिने और अमुक प्रकार से मिठाईयां न बनाये और अमुक प्रकार से सवारी पर बैठकर न निकलें। इन मामलों को लेकर आज भी देहात में बड़ी कटुता पायी जाती है और कई स्थानों पर तो झगड़े खड़े हो जाते हैं। शिक्षा के प्रसार से हरिजनों की माली हालत में सुधार होने से और सबसे ज्यादा तो जमाने की हवा बदलने से छुआछूत मिटती जा रही है। पर मुश्किल यह है कि जिन सुधारवादियों को छुआछूत बिल्कुल नहीं मानना चाहिए वे भी इस काम में बहुत कच्चे हैं। उनके घरों की तो बात ही क्या की जाय ? जैसे और मामलों में वैसे ही और उससे भी बढ़कर छुआछूत के मामले में ज्यादातर सुधारवादियों के और राजनैतिक कार्यकर्ताओं तक के घर वैसे ही हैं जैसे कोई दूसरे घर हैं। इसके अलावा हरिजनों की विभिन्न जातियों में आपसी छुआछूत बहुत फैली हुई है। हरिजन जातियां भी आपस के व्यवहार में बड़ी कट्टर होती हैं। भंगियों आदि से दूसरी हरिजन जातियां कम दूर नहीं रहती हैं। लेकिन इस बारे में किसी को दोष देना ठीक नहीं है। वे परम्परागत बुराईयां हैं और इनके मिटने में आखिर समय लगता ही है। किसी ने जानबूझकर योजना बनाकर सार्वजनिक बुराईयों को थोड़े ही पैदा किया था। किसी भी व्यवस्था में दोष पैदा हो ही सकता है। हिन्दू समाज की व्यवस्था में भी दोष घुस गये। वह व्यवस्था बड़ी तेजी से बदल रही है। उसके साथ साथ छुआछूत की बुराई भी अवश्य मिट जायगी।

नये जमाने में जातियों की और उनके घंघों की परंपरायें कायम रहती हुई नहीं दिखायी देती। वर्ण व्यवस्था के कायम रहने का सवाल ही

कहाँ है ? जन्म के आधार पर कोई अपने आपको भले ही ब्राह्मण क्षत्रिय आदि मानते रहें और भले ही आज तक भी ब्राह्मण क्षत्रिय आदि कुलों में जन्म लेने वाले संबंधित व्यक्तियों में कोई विशेषता पायी जाती हो ? परन्तु अब कोई धंधा ऐसा नहीं है जो सबके लिए खुला हुआ नहीं हो। अलवत्ता जिन धंधों को हल्का माना जाता है उन्हें दूसरे लोग जल्दी से अपनाते हुए नहीं दिखायी देते हैं। पर यह प्रक्रिया भी चालू तो है। कुछ तो ऐसे धंधों का स्वरूप ही बदल जायगा और कुछ परिवर्तन आर्थिक परिस्थितियों के कारण से भी हो जायगा।

मुझे लगता है कि हरिजनों को मंदिरों में प्रवेश कराने का कोई जिन्दा सवाल नहीं है। और मैं यह भी महसूस करता हूँ कि हरिजनों पर उपकार करने की वृत्ति को भी अब समाप्त हो जाना चाहिए। मेरे नजदीक सब सवालों का सवाल यह है कि लोगों की आर्थिक स्थिति ठीक होनी चाहिए। जिनके पास जमीन नहीं है, उन्हें जमीन मिलनी चाहिए। जिनके पास कमाकर खाने के लिए धंधा नहीं है उन्हें धंधा मिलना चाहिए। और यह सब कुछ इसलिए होना चाहिए कि यह बेजमीन और बेरोजगार लोगों का हक है। कोई किसी पर उपकार करने की सोचे तो वह उपकार करने वाला कौन होता है ? और जिस पर उपकार करने की सोची जाती है वह तो (अर्थात् उसका मान तो) उस उपकार के द्वारा मारा जाता है। किसी ने किसी के हक को दबा रखा हो और वह अपने आपसे आगे होकर उस हक को छोड़ देता हो तो अच्छी बात है उसके लिए। पर जिनको अपना हक पाना हो वे किन्हीं दूसरों के भरोसे पर थोड़े ही बैठे रहेंगे कि वे नावाजिव तरीके से दबाये हुए हक को छोड़ें तो हमें मिले और कोई दूसरे उन्हें समझा बुझाकर उनसे कुछ दिलवा दें तो वह टुटड़ा हमें मिल जाय। हरिजनों के लिए और इस प्रकार अपना खोया हुआ हक पाने की जिनकी भी परिस्थिति हो उन सबके लिए यह दीन वृत्ति का काम होगा कि वे दूसरों का मुँह ताकते रहें। उपकार के तरीके से जितने काम होते हैं उन सबका यही हाल समझना चाहिए।

हरिजनों के लिए पाठशाला बनवाना, कुआँ बनाना और और कुछ करना इस सबका क्या मतलब ? कहां से वह पैसा आता है ? किसका है वह पैसा जिससे ऐसे काम होते हैं ? किसी सरकार के पास पैसा है तो वह कहां से आया ? जिसका पैसा है किसी युक्ति के द्वारा उससे वह ले ले और फिर चले उसी पर उपकार करने को । और वह जो उपकृत किया जाता है वह कहां जानता है कि उसी के पैसे से उसकी सेवा की जा रही है ? उसे कहां मालूम है कि शोषण की यह नयी तरकीब है ? राष्ट्र के प्रत्येक व्यक्ति के पास संविधान के अनुसार वोट की शक्ति तो है । उस शक्ति उपयोग लोग अपने अपने लिए कर लेना चाहते ही हैं । इसलिए वे उस शक्ति को सस्ते दाम पर खरीद लेने की योजना बनाते हैं । किसी के पास राजसत्ता है तो वह उस शक्ति को और भी ज्यादा आसानी से खरीद सकता है और जो दाम देने पड़ें वे सब उसी के होते हैं जिसकी वोट शक्ति भी है । और फिर उपकार ऊपर से, सेवा सिवाय सीने । यह मैं हरिजनों के प्रसंग में लिख रहा हूं, पर यह बात लागू सभी शोषितों, सभी साधनहीनों पर होती है । क्या हरिजनों को, क्या दूसरों को—सभी को अपनी ताकत को पहचानना है और अपनी ही ताकत पर खड़ा होना है । जो उपकार या अपकार करना होगा सो सब कुछ अपने ही हाथ से कर लेना है । न तो अपनी तलवार अपना गला काटने को दूसरों के हाथ देनी और न अपनी फूलमाला अपने गले में डलवाने के लिए दूसरों को सौंपनी है । हरिजनों में से जो कुछ लोग विशेष रूप से उपकृत हो चुके वे उपकार करने वालों से मिल गये समझिये । बाकी हरिजनों को दूसरे समान कोटि के लोगों के साथ मिल जाना चाहिए, और उन दूसरों को भी संगठित शक्ति की खातिर हरिजनों आदि सभी से मेल बैठाना चाहिए । फिर डटकर मुकाबला हो और अपना हक प्राप्त किया जाय । इस प्रकार हरिजन और तमाम गरीब जनता खुद के बल में, खुद के साधन से खुद का उपकार कर सकती है और तमाम परोपकारियों को आराम करने के लिए छुट्टी दे सकती है ।

राजपूतों के लिये

भारत की वर्ण व्यवस्था में ब्राह्मण के बाद क्षत्रिय का ऊँचा स्थान था। ब्राह्मण को बहुत माना जाता था और उसके तप की धाक भी जमी हुई थी। तथापि राजसत्ता प्रायः क्षत्रिय के पास होने के कारण लोक में क्षत्रिय का प्रभाव विशेष था। प्राचीन समय के अच्छे घुरे राजाओं की बातें बहुत सुनने को मिलती हैं। उनकी आपस की लड़ाइयों की, उनके यज्ञों की और उनकी हारजीत की असंख्य कथायें प्रचलित हैं। क्षत्रिय की वीरता और निर्बल की रक्षा करने का उनका धर्म, यह सब कुछ प्रसिद्ध है। पहिले जो क्षत्रिय थे, वही बाद में राजपूत माने गये। मध्यकाल के राजपूत राजाओं का इतिहास एक ओर बहादुरी का तो दूसरी ओर आपस की फूट का इतिहास माना जा सकता है। राजपूत की जान पर खेल जाने की तैयारी की प्रशंसा की जा सकती है तो उसके आपस के लड़ाई भगड़े और मुसलमान बादशाहों से दब जाने की निंदा की जा सकती है। अंग्रेजों के जमाने में देश के दूसरे राजाओं की भांति राजपूत राजाओं ने भी अंग्रेजों का आधिपत्य स्वीकार कर लिया। और अभी हाल में सभी राजाओं और नवाबों की सत्ता उनके हाथ से निकल गयी तो राजपूत राजाओं की भी वही हालत हो गयी।

राजपूत राजाओं की अधीनता में जो हजारों राजपूत जागीरदार थे उनकी जागीर और उसके साथ लगी हुई जो उसकी सत्ता थी वह भी समाप्त हो गयी। जिन साधारण राजपूतों के पास थोड़ी-थोड़ी जमीन रहती आयी हैं वे इस समय बड़ी कठिनाई में फंसे हुए समझे जा सकते हैं। फौज या पुलिस की नौकरियों में राजपूतों का गुजर होता आया है सो वे नौकरियां भी नये जमाने में उनके लिए सुलभ या सुरक्षित नहीं हैं। जो राजपूत अपने हाथ से मेती करते आये हैं, उनकी स्थिति तो अलग हो सकती है, बाकी राजपूतों के लिए अपने गुजारे का बड़ा सवाल खड़ा हो गया है।

राजपूत का सम्बन्ध किसी न किसी रूप में राज से रहता आया है। इस बात का स्वाभाविक अभिमान भी राजपूत को रहा है। राज सत्ता से सम्बन्धित होने का कुछ न कुछ लाभ भी राजपूत को मिलता आया है। राजपूत की परम्परा थोड़ी बहुत जागीर जमीन के खातिर किसी न किसी को अपना मालिक मानने की भी रहती आयी है। राजपूत ने जिसे अपना मालिक माना उसके लिए वह अपनी जान की बाजी भी लगाता आया है। साथ ही दूसरी साधारण जनता की अपेक्षा अपने आपको विशेष मानने की आदत भी राजपूतों की रही है। जमीन, लगान, लागवाग, बेगार के सवालों को लेकर राजपूतों का मनमुटाव और झगड़ा भी हमारे लोगों के साथ हुआ है। इस प्रकार राजपूत सर्वसाधारण जनता से कुछ अलग से पड़ गये हैं। किसान आदि दूसरे लोग किसी न किसी रूप में संगठित हो गये। उन लोगों के साथ बाकी जनता की सहानुभूति पैदा हुई और आगे चलकर तो राजनैतिक कारणों से उनकी ज्यादा पूछ हो गयी और इस स्थिति का फायदा भी उनमें से कई लोग तो उठा रहे हैं। राजपूतों ने संगठित होने का प्रयत्न भी किया तो वह कुछ पुराने ढंग का रहा जो इस जमाने में सफल नहीं हो सका। जमाने की हवा देख कर राजपूतों में से कुछ खास लोगों ने उसी राजनैतिक दल में शामिल होने की पहल की है जिससे सम्बन्धित लोगों से उनकी गहरी लड़ाई रही है। राजपूतों की यह तमाम स्थिति बहुत ज्यादा विचार करने योग्य हो गयी है।

जो कुछ ऊपर कहा गया है इसके अलावा यह भी है कि कई राजपूतों का अपने-अपने क्षेत्रों में आज भी अच्छा प्रभाव है। भले ही राजपूत पुरानी राजसत्ता से सम्बन्धित रहे हों और ऐसे सम्बन्ध के कारण उन पर भले ही अत्याचारी आदि होने का लान्छन लगा हो फिर भी लोग उन्हें मानते हैं और कई जगह तो बहुत मानते हैं। इधर नयी राजसत्ता में जिन नये लोगों का सम्बन्ध आया उनमें बहुतों के और ज्यादातर उनके छुटभैयों के आचरण और व्यवहार ने राजपूतों को जनता की निगाह में अच्छा सावित करने में काफी मदद पहुंचायी है लोग खुल्लम खुल्ला अंग्रेजों को, राजाओं को और जागीरदारों तक को अच्छा बताते हैं और पिछले जमाने को याद करते हुए कहते हैं कि इससे तो वही अच्छा था।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है आज आम राजपूत के लिए सबसे बड़ा सवाल तो उसके गुजारे का हुआ जा रहा है। सत्ताधारियों और उनके साथियों के दिल में राजपूत के विरुद्ध एक भावना है। इसके अलावा जमीन के मामले में आपस के स्वार्थ भी टकरायेंगे। ऐसी हालत में राजपूत के पास लगान देकर भी खेती के लिए जमीन का बना रहना मुश्किल दिखायी दे रहा है। किसी भी दूसरी जगह जाकर बसना हर किसी के लिए मुश्किल है तो वह राजपूत के लिए आसान नहीं होगा। यह भी बताया जा चुका है कि सरकारी नौकरियों में भी राजपूत की कोई खास पूछ रहने वाली नहीं है। आज तक बहुतों को दबी हुई श्रेणी में माना जाता रहा है। मुझे ऐसा लगता है कि अब आज आम राजपूतों को भी उस श्रेणी में मानना पड़ेगा और उसी दृष्टि से उसकी सहायता करनी होगी। यदि आम राजपूत यह समझते हों कि जो लोग उनके अपने थे उनकी ओर से भी उनके साथ विश्वासघात जैसा हो गया है तो उनका यह समझना विल्कुल बेजा हो सो बात नहीं है। परन्तु अब तो इन सब पुरानी और नयी बातों को छोड़कर राजपूतों को अपने पैरों पर खड़ा होना सीखना चाहिए। वे अपने में से सही नेतृत्व की पहिचान करें और आवश्यकतानुसार अपने से बाहर भी नेतृत्व की खोज कर लें। राजपूत समझले कि अब पुराने जमाने को वापस नहीं लाया जा सकेगा और आइन्दा दुनिया न खड़ी रहेगी, न पीछे

हटेगी बल्कि आगे चलेगी इसलिए राजपूतों को भी आगे चलने की तैयारी करनी चाहिए। राजपूतों को सर्वसाधारण के साथ घुलमिल जाना चाहिए। धन धरती की जो नयी पांती होगी उसमें उनको जरूर हिस्सा मिलेगा। उस समय से पहले उन्हें किसी से ज्यादा आशा करने के फेर में नहीं पड़ना चाहिए। इसके बजाय उन्हें तो धरती की पांती जल्दी से जल्दी करने के काम में योगदान देना चाहिए। जो आज तक उनके अपने थे उनके धन में और उनके पास बची हुई धरती में भी आम राजपूतों को पांती नहीं मिलेगी। सच बात तो यह है कि उस तरह के लोगों को राजपूतों की दृष्टि से राजपूत गैर राजपूत का भेद छोड़कर सर्वसाधारण की बड़ी विरादरी में शामिल होकर अपने साहस व अपनी बुद्धिमानी का भी परिचय देना चाहिए। आज तक राजपूतों को दूसरे लोगों ने प्रतिक्रियावादी और न जाने क्या-क्या समझा बताया। अब राजपूतों को ज्यादा अग्रगामी होकर जरा मुड़कर देखना चाहिए कि उन्हें प्रतिगामी बताने वाले पीछे कहीं तो आते दिखायी देते हैं या नहीं ! राजपूतों में ऐसी ताकत है तो सही और 'भरता क्या नहीं करता' के अनुसार राजपूत ने पहले पुराने और बीच के जमाने में भी अपनी ताकत दिखायी है और उस ताकत को वह आने वाले जमाने भी जरूर दिखा सकता है। बात इतनी ही है कि राजपूत अब पीछे देखना छोड़ दें। वह उठरो न कहे और आगे चलना शुरू कर दे और जरा तेज कदम से चले और जिनकी चाल अब लड़खड़ाती हुई सी लगे उनके पीछे राजपूत न लगे बल्कि छलांग मारकर आगे निकल जाय। इधर-उधर आशा लगाना छोड़कर और अपने को सर्वथा वन्धन मुक्त मानकर राजपूत को शानि और वैर्य से 'हर हर महादेव' की ध्वनि के साथ जनताजनार्दन की निःशस्त्र सेना में घुस पड़ना चाहिए।

ब्राह्मण-वनियों के विषय में

ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य को द्विजाति माना गया । जैसे क्षत्रिय का शब्द राजपूत बन गया, वैसे ही वैश्य के स्थान पर वनिया प्रचलित हो गया । राजपूत का राज से सम्बन्ध होने से वह कुछ अलग सा टल गया । बाकी द्विजाति में ब्राह्मण-वनिया जोड़े से बोला जाने लगा । प्राचीन समय की दृष्टि से वनियों ने खेती व गोपालन के कामों को छोड़ दिया हो तब भी व्यापार के काम को वे अपनाये हुए हैं । इसलिए कुल मिलाकर वनिया जाति में एक प्रकार की एकता है । वैसी एकता ब्राह्मणों में नहीं दिखायी देती है । वे एक ओर किसी के यहां किसी की एवज में पाठ करने वाले हैं, दूसरी ओर तामड़ा वृत्ति से गुजर करने वाले हैं, तीसरी ओर उदक की जमीन के आधार पर पड़े रहने वाले रहे हैं । पर ज्यादातर ब्राह्मण जिधर जो काम मिल गया उसी से अपना गुजर करने लग गये । बहुत से ब्राह्मण अपने हाथ से खेती करते हैं और वे बहुत अच्छे किसान हैं । ब्राह्मणों में उपजातियां बहुत हैं और उनके कारण से वे बिखरी हुई स्थिति में हैं । ब्राह्मणों में एकता की कमी के कारण

ही शायद यह कहा जाता है 'बुरा ब्राह्मण से होय' अर्थात् आपस में एक दूसरे का भला होने के बजाय बुरा ही हो जाता है। ब्राह्मण को किसी हद तक पूज्य दृष्टि से देखते हैं, पर वास्तव में देखा जाय तो वनिया समाज में ब्राह्मण को कुछ ठीक नहीं माना जाता है जिसका खराब कारण ब्राह्मण की मांगने की वृत्ति को समझना चाहिए।

मैंने ब्राह्मण-वनिया को एक साथ इसलिए लिया है कि कस्बों में और किसी हद तक शहरों में भी मुख्यतया इन दोनों जातियों से मध्यम वर्ग बनता है। नौकरी व्यापार आदि में लगी हुई दूसरी जातियां (यथा खत्री, कायस्थ आदि) भी मध्यम वर्ग में शामिल हैं। वैसे तो जाति के बन्धन ढीले होते ही जा रहे हैं फिर भी एक ही जाति के लोगों की आपस में एक स्वाभाविक निकटता सी मानी जा सकती है। परन्तु जो जातियां मध्यम वर्ग में आती हैं उसका किसी प्रकार का आपस का सम्बन्ध इस आधार पर नहीं बनता है। भारत में मध्यम वर्ग के लोगों ने आजादी की लड़ाई में बहुत आगे बढ़कर हिस्सा लिया। परन्तु आज देखने में यह मिल रहा है कि मध्यम वर्ग की हालत ही सबसे ज्यादा खराब है। और सच बात यह भी लगती है कि मध्यम वर्ग के सामने कोई भविष्य नहीं दिखायी देता है। कस्बों और शहरों में ब्राह्मण-वनियों का बुरा हाल है। ब्राह्मणों की जीविका के पुराने साधन प्रायः समाप्त हो चुके हैं। वे पुराने साधन किसी समय तक और किसी हद तक बने रहे तब भी उनसे कितने से लोगों का और कितना सा गुजर हो सकेगा? उदक की जमीन के आधार पर ब्राह्मण का जिनदा रहना अब सम्भव नहीं दिखाई देता और उनका लेन देन का घन्घा भी शिथिल हो गया है। वनियों की शायद उनके साधन सम्पन्न विरादरी वालों के यहां कुछ ज्यादा पूछ हो जाती होगी। तब भी मुझे लगता है कि शोषण साधनहीन वनियों का भी जरूर होता है। इसलिए जाति के आधार पर साधनहीन वनिया साधन सम्पन्न वनिये के साथ लगा हुआ मुश्किल से ही रह सकेगा।

भारत जैसे देश में सबसे मुख्य काम तो खेतों के द्वारा जमीन में से माल पैदा करने का है। खानों में से माल निकालने का दूसरा काम है। इस

तरह प्राप्त हुए माल को उपभोग घरों में या कारखानों में जरूरी चीजें बनाने के लिए होता है सो तीसरे चौथे प्रकार के काम हो जाते हैं। ये तीनों चारों काम तो बने ही रहेंगे। उत्पादक द्वारा पैदा किए हुए माल को उपभोक्ता के पास पहुँचाने का पाँचवां काम है, पर कहा नहीं जा सकता नये जमाने में इस काम की क्या स्थिति बनेगी ? छठा काम बुद्धिजीवी लोगों का होगा और सातवां काम कलाकारों का भी हो सकता है। जहां तक दिखायी देता है आइन्दा जाति के आधार पर कामों का बंटवारा नहीं होने वाला है, भले ही कुछ काम के लिए कुछ समय तक कुछ जातियां सुनिश्चित सी दिखायी दें। अब तो किसी भी जाति का आदमी किसी भी काम को सीख सकता है और अपना सकता है। और किसी भी जाति का कोई भी आदमी अपने परम्परागत काम को छोड़ भी सकता है। जो आदमी जिस काम के योग्य साबित होगा उसी काम को वह अपना संकेगा और उसमें सफलता भी प्राप्त कर लेगा।

जब ब्राह्मण-वनियों के भविष्य का विचार आता है तो यही खयाल बनता है कि उन्हें भी जाति का आधार छोड़कर अपनी अपनी परिस्थितियों के अनुसार विभिन्न धंधे अपना लेने पड़ेंगे। ब्राह्मण-वनिये आजकल की शिक्षा पद्धति के अन्तर्गत पढ़ लिख कर बेकारों की संख्या बढ़ाने वाले बन जाते हैं। दूसरे लोग अपने-अपने कामों में लगे ही हैं और वे नये कामों में भी जा सकते हैं। पर ब्राह्मण-वनियों की मुश्किल दुगुनी हो रही है कि उनके खुद के कामों का ह्रास होता जा रहा है और नये कामों में जाना उनके लिए कई कारणों से मुश्किल बना हुआ है। इस निगाह से देखने से दिखायी देगा कि राजपूतों के साथ-साथ ब्राह्मण-वनिये दलितों की श्रेणी में आ रहे हैं। देश की सरकार के सामने यह एक खास काम है। हिम्मत करके एक झटके से शिक्षा पद्धति को व्यावहारिक रूप दिया जाय जिससे उपयोगी शिक्षण प्राप्त किये हुए लोगों को रोजगार देने का जिम्मा सरकार की ओर से लिया जाय। दूसरी ओर ब्राह्मण-वनिये तथा मध्यम वर्ग के दूसरे लोग पुरानी परम्पराओं को छोड़कर अपनी-अपनी योग्यता और प्राप्त अवसरों के अनुसार नये धंधे

में लगना मंजूर कर लें। जिनको अपनी जीविका के लिए वंवा चाहिए वे तो आखिर पसन्द से या बिना पसंद के किसी भी वंवे को अपनाने को तैयार हो ही जायेंगे पर सवाल सरकार के सामर्थ्य का है। जिस चाल से सरकार चल रही है उससे तो वह कहीं पहुंचती हुई नज़र नहीं आती। सरकार को अपनी चाल को तेज करना ही पड़ेगा और अपने तरीकों को भी बदलना ही पड़ेगा। दोनों ही काम सरकार नहीं कर सकेगी तो जिन ब्राह्मण-वनियों का हाथ आजादी लाने में रहा उन्हीं का हाथ देश में नयी आर्थिक क्रांति लाने में होने वाला है। घटनाएं देश को उसी तरफ ले जा रही हैं।

शिक्षक, साहित्यिक, कलाकार, चिकित्सक, वकील आदि

समाज में शिक्षक का स्थान बहुत ऊँचा माना गया है। उसके साथ एक प्रकार की पवित्रता भी लगी हुई है। शिक्षक का सम्बन्ध राष्ट्र के प्रत्येक परिवार से होता है और शिक्षा प्रसार की कमी से किसी समय न होता हो तो होना चाहिए। व्यक्तियों से राष्ट्र का निर्माण होता है और व्यक्तियों के निर्माण का बहुत सा जिम्मा शिक्षकों पर होता है। इसलिए शिक्षकों का शिक्षित, योग्य और अच्छा होना अनिवार्य है। अच्छे से अच्छे लोगों की शिक्षा के क्षेत्र में काम करने को आना चाहिए और समाज में उनकी ज्यादा से ज्यादा कद्र होनी चाहिए और उनके भरण-पोषण का सन्तोषजनक प्रवन्ध होना चाहिए। पर यह सब कहाँ हो रहा है? ज्यादातर यह देखा गया है कि जिसे कोई काम नहीं मिलता है वह शिक्षक बनना मंजूर करता है। खासकर छोटी कक्षाओं के शिक्षकों को वेतन भी पर्याप्त नहीं मिलता है और उनके लिए समझा और कहा भी यही जाता है कि ये छोटे पढ़ाने वाले हैं। उतना सा

ही वेतन पाने वाले दूसरे कर्मचारियों की अपेक्षाकृत ज्यादा पूछ होती है। ऐसी हालत में शिक्षक अपनी स्थिति से नाखुश ही रह सकता है। वह दबा हुआ सा भी रहता है। उसे जीविका बढ़ाने की खातिर कुछ ऐसे कामों में पड़ जाना पड़ता है जो उसके योग्य नहीं माने जा सकते। तब उसके द्वारा वच्चों का कैसा चरित्र निर्माण होगा ? जहां तहां अच्छे शिक्षक भी मिलेंगे, पर वे कितने ? जिसे उच्च शिक्षा बोलते हैं उसके क्षेत्र तो बहुत ज्यादा दूषित हो रहे हैं। वहां तो चुनावों आदि की राजनीति ने ही भयंकर रूप धारण कर रखा है। पाठ्यक्रमों का व्यापार नीचे से नीचे घरातल पर चलता है और परीक्षक बनने-बनाने का बंधा भी कुछ ऐसा ही है।

साहित्य के क्षेत्र में काम करने वालों का समाज पर गहरा प्रभाव है। लेखक की कलम से युग परिवर्तनकारी चीजें लिखी जा सकती हैं और कभी कभी लिखी जाती हैं। पर समाज में पूछ साहित्यिकों की भी कम होती देखी गयी है। देश की भाषाओं में लिखने वालों का भाव तो गिरा हुआ सा ही है। ऐसी ही स्थिति हिन्दी आदि के पत्रकारों की समझी जा सकती है। उन्हें अपनी जीविका के लिए मुकाबले में बहुत कम मिलता है और उनमें से अधिकतर को गरीबी में गुजर करना पड़ता है। कलाकारों की स्थिति भी कुछ अच्छी नहीं है। गीत, वाद, नृत्यवालों में से जो आगे आ सके वे तो आ ही गये बाकी ज्यादातर लोगों की हालत तो दया करने जैसी मालूम होती है। यही चित्रकला वालों के विषय में कहा जा सकता है। चिकित्सकों में हकीम वैद्यों की कीमत तो कम ही है पर डाक्टरों का भाव शायद उतना नहीं गिरा है। परन्तु डाक्टर बनने के लिए जितना परिश्रम करना पड़ता है और जितना खर्च उठाना पड़ता है उसके मुकाबले में साधारण डाक्टर कितने से फायदे में रहता होगा सो सोचने समझने की बात है। फिर डाक्टरों की संख्या बढ़ भी तो रही है। इतने डाक्टरों को सम्भव है नौकरी मिलते रहना आसान न हो, और स्वतन्त्र रूप से अपना बंधा शुरू करके उसे रुपये लगाने के लिए डाक्टर को भी बहुत से जोड़-तोड़ और साधन की जरूरत पड़ती है।

वकीलों की संख्या भी हर साल बढ़ना चाहती है तब फिर उतने ही मामले मुकदमे बढ़ने चाहिए ? वे कहां तक बढ़ेंगे ? बदालत की परोक्षा पास

करने वाले और जरा बहुत वकालत का काम शुरू करने वाले बहुत से युवक नौकरी की तलाश में लगे रहते हैं। लेकिन नौकरियां कहां असंख्य हैं ? नौकरियां चाहने वाले असंख्य मालूम पड़ रहे हैं। नौकरी में कुछ लोगों को ज्यादा वेतन मिल जाता है तो बात अलग है। बाकी ज्यादातर नौकरी पेशा लोगों का गुजर होना सबसे ज्यादा मुश्किल हो रहा है। गुजारे के लिए वे दूसरे उचितानुचित उपायों का अवलम्बन करके अपने काम चलायें तो भले ही, बाकी तनखाह के भरोसे नौकरी में मजा नहीं है। जिसे नौकरी चाहिए उसे झटपट काम मिल जाता हो तब तो कम ज्यादा तनखाह की बात भी देखी जाय, पर सवाल तो नौकरी मिलने न मिलने का है। नौकरी करने वालों के सामने एक समस्या यह भी है कि अब उनके अकेले की कमाई से सारे परिवार का काम नहीं चल सकेगा। अब तो स्त्रियों को भी नौकरी की खोज करनी ही पड़ती है और यही आखिर उनके पढ़ने लिखने का नतीजा निकलता है।

इन सब बातों का निष्कर्ष यह है कि मनुष्य अपनी इच्छा या मंजबूरी से किसी भी काम को पसन्द करके अपना लें, पर उस काम में से उसका गुजारा तो अच्छी तरह से हो जाना चाहिए। वैसे मुख्य चीज तो काम है जो व्यक्ति को समाज और राष्ट्र के लिए करना चाहिए परन्तु जब गुजारे की मुश्किल हो जाती है तो मुख्यता काम की न रह कर गुजारे की बन जाती है। यह देखा गया है कि किसी काम को चुनते समय मनुष्य पहले यह बात देखता है कि उस काम के जरिये से उसका गुजारा कैसे क्या हो जायेगा ? राष्ट्र की मनुष्य शक्ति के विनियोग की कोई योजना तो सामने है नहीं। कितने शिक्षक चाहिए, कितने चिकित्सक चाहिए, कितने वकीलों से काम चल सकता है, कितने इंजीनियर चाहिए और कितने-कितने स्थान दूसरे-दूसरे प्रकार के कर्मचारियों के लिए हैं ? अमुक-अमुक कामों के लिए राष्ट्र के पास आदमी कितने-कितने हैं ? किन्हीं लोगों की कमी है तो उनकी संख्या बढ़ाने के लिए क्या करने का है ? किसी प्रकार के लोग किसी क्षेत्र के लिए ज्यादा हो गये तो उन्हें दूसरे क्षेत्रों में भेजने के लिए क्या किया जायेगा ? इस तरह तमाम हिसाब लगाये बिना तो पूरे तौर पर खुला व्यापार है पूरी आजादी

है। मुझे लगता है कि आने वाले जमाने में ऐसी आजादी नहीं मिलेगी। जन संख्या बढ़ने की समस्या भी राष्ट्र के सामने है ही। जब हिसाब लगेगा तब तमाम चीजों का ही लगेगा। मनुष्य कितने हैं? जमीन कितनी है? किन-किन कामों के लिए कितने-कितने आदमी चाहिए? ऐसा हिसाब लगाने का अर्थान् योजना बनाने का आधार भले ही कुछ भी हो केन्द्रीयकरण हो या विकेन्द्रीयकरण हो हिसाब लगाना तो पड़ेगा। आज मुसीबत यह है कि हिसाब लगाया नहीं जा रहा इसलिए राष्ट्र के सामने समस्या बढ़ रही है और असंतोष बढ़ रहा है। लोक शिक्षण से जितना काम हो सकता है उतना लोक शिक्षण से होगा, कानून का उपयोग जितना करना पड़ेगा उतना कानून का उपयोग होगा। परन्तु ऐसी व्यवस्था अवश्य करनी होगी जिसमें प्रत्येक मनुष्य को उसकी रुचि और शक्ति के और राष्ट्र की आवश्यकता के अनुसार काम मिल जाय और प्रत्येक पेट को रोटी मिल जाय। देश में जो स्थिति आज है उसे इसी प्रकार चलने देने का परिणाम ठीक नहीं होगा। स्वतन्त्र होने के बाद इस प्रकार का योजनावद्ध काम होना ही चाहिए।

पूँजीपतियों व उद्योगपतियों के विषय में

खेती के जरिये जमीन में से सम्पत्ति पैदा की जाती है। खानों में से कई प्रकार की सम्पत्ति निकलती है। अपने यहां पशु धन की बड़ी महिमा मानी गयी है। कच्चे माल की शक्ल सूरत बदल कर उसे पक्का उपयोगी माल बनाया जाता है। इन कामों में से खेती का काम आम तौर से बिखरा हुआ सा मालूम होता है। कम ही लोग ऐसे मिलेंगे जिनके यहां बड़े पैमाने पर खेती होती रही हो। पशु पालन से भी सम्बन्धित लोगों का साधारण गुजर ही होता देखा गया है। खानों का काम कम होता रहा होगा। कारीगीरी के काम भी गांव गांव और घर घर छोटे पैमाने पर होते रहे। तात्पर्य यह कि इन कामों के द्वारा ही व्यक्ति के पास असाधारण धन इकट्ठा होने की गुंजाइश प्रायः नहीं होती थी। परन्तु व्यापार और लेन देन के धन्धे करने वाले लोग पहले भी मालदार हो जाया करते थे। परन्तु पहले आवादी कम थी और आम तौर से लोगों का जीवन सादा था। गरीबी पहले भी थी, पर तब उस गरीबी का जिम्मा किन्हीं दूसरे लोगों पर नहीं समझा जाता था। धन कमाकर इकट्ठा कर लेना एक तरह से हक था। यह भी मान ही लिया जाता था कि व्यापार धन्धे

में मुनाफा पैदा किया ही जायगा । किसी वनिये की विशेष बेईमानी सामने आती तो उसे लोग जरूर ही बुरा समझते थे । पर उसका उपाय कुछ हो नहीं सकता था । समाज में सेठ साहूकारों का अपना एक स्थान था । वे लोग अपने धन के एक हिस्से का उपयोग 'दान पुण्य' में करते थे । धर्मशाला बनवा देना, कुँआ बनवा देना, सदावर्त खोल देना, ब्राह्मण को भोजन कराना और उन्हें दान दक्षिणा देना-पुण्य के कामों के यही तरीके थे । कोई इन कामों की विशेष रूप से करता तो उसकी ज्यादा बढ़ाई होती थी ।

अब ये तमाम बातें बहुत बदल गयी हैं । देश विदेश के खुले व्यापार से धन कमाया जाता है । मिल कारखाने धन कमाने के और भी पक्के जरिये माने जाते हैं । सौदा सट्टा भी कुछ लोगों की धनी बनाने का जरिया हो जाता है । पहले की अपेक्षा धन इकट्ठा कर लेने के मौके नये जमाने में ज्यादा आये । युद्धकाल में और भी ज्यादा धन कमाया गया । धन कमाने वाले औपचारिक, स्कूल कालेज आदि खोल कर कुछ भला काम भी करते ही हैं । धन कमाने के जरिये बढ़ गये हैं तो धन को एक जगह इकट्ठा होने से रोकने के लिए करों की व्यवस्था भी बढ़ी है । कर व्यवस्था से वचने के उपाय भी निकाल ही लिये जाते हैं । सही-सही आयकर चुकाने वाले तो शायद ही कोई होंगे । मृत्युकर नयी चीज है, पर उससे वचने के रास्ते भी खोजे ही जाते होंगे । जनता में धनपति-पूँजीपति के विरुद्ध भावना बढ़ती जा रही है । धनपति जिसे अपनी कमाई समझता होगा उस पर दूसरे लोग उसका हक मानने को ही तैयार नहीं हैं । लोग समझते हैं कि वास्तव में कमाई करने में खून का पानी तो दूसरे जोग करते हैं और कमाई का फल मिल जाता है कम काम करने वाले किसी दूसरे को ही । इस स्थिति को अन्याय की स्थिति माना जाता है और इसे बदलने के लिये एक से अधिक तजवीजें सामने लायी जा रही हैं ।

पूँजीपति-उद्योगपति अपनी और देश को समृद्ध बनाने का श्रेय लेना चाहते हैं । वे समझते मालूम होते हैं कि उनके पास व्यापार करने और कारखाने चलाने की खास कला है जो दूसरों के पास नहीं । उनके ख्याल से उनकी उस कला के बिना सफलतापूर्वक कारखाने चल ही नहीं सकते और पूँजी

को तो वे अपनी निजी सम्पत्ति मानते ही हैं। और दूसरों के पास से थोड़ी-थोड़ी करके बहुत सी पूंजी जुटा लेने की स्थिति में भी वे हैं ही। अपनी थोड़ी पूंजी दूसरों के हाथ में सौंप देने वालों को कुछ ठीक एवजाना मिले या न मिले, पर वे लोग उस थोड़ी पूंजी का स्वतंत्र रूप से कोई दूसरा उपयोग भी तो नहीं कर सकते। पूंजीपतियों के कई दावों को दूसरे लोग स्वीकार नहीं करते हैं। पूंजीपति कहीं पर नया कारखाना चालू करने की बात करते हैं तो सबसे पहले विशेष सुविधाओं की शर्त वे रखना चाहते हैं। नये काम की जोखिम को वे उपकार की खातिर तो नहीं उठाना चाहते। ऐसी हालत में देश का विकास करने का उनका दावा लोगों को अपील नहीं करता। यही समझा जाता है कि पूंजीपति के सामने उसके अपने मुनाफे का सवाल मुख्य है। मुनाफा कमाने की स्थिति किसी एक जगह है उसे वह दूसरी जगह भी पैदा कर लेना चाहता है जिससे कहीं पर कुछ गोलमाल हो तो कोई दूसरी जगह तो उसके लिये सुरक्षित रह जाय।

देश की गरीबी का ज्यादा से ज्यादा जिम्मा पूंजीपतियों पर लगाया जाता है। यह कहा जाता है कि उनके शोषण के कारण यह दुर्दशा हो रही है। शोषण की शिकायत तो ठीक है। पर सच बात यह है कि अपने देश में अभी तक पूरा माल पैदा नहीं होता है। लोगों को पूरा काम नहीं मिलता है और उनकी शक्ति एक ओर बढ़ नहीं रही है तो दूसरी ओर जो शक्ति है उसका उपयोग भी नहीं हो रहा है। पूंजीपति अपने मुनाफे की निगाह से चलता है और उसी निगाह से वह माल पैदा करता है। प्रारंभिक अवस्थाओं में देश की जरूरत और उसके मुनाफे की निगाह का किसी हद तक मेल बैठ जाना भी सम्भव है। परन्तु पूंजीपति की व्यक्तिगत निगाह से देश का हित नहीं हो सकता है। देश के सामने पूरी योजना होनी चाहिए—जन शक्ति की, धन शक्ति की, कच्चे माल की, और देशवासियों की जरूरत की। ऐसी राष्ट्रीय योजना में उद्योगपतियों के विशेष अनुभव का उपयोग भी देश के हितार्थ हो सकता है सो किया जाना चाहिये। उद्योगपति अपने निजी लाभ की शर्त पर ही सहयोग देने की बात करेंगे तो वह चलने वाली नहीं है। दूसरी ओर आज के उद्योगपति को उखाड़ कर फेंक देने की कल्पना भी बहुत करके

इस देश में व्यावहारिक सिद्ध नहीं होने वाली है। राष्ट्रीय नियंत्रण के बिना काम चलाना मुश्किल है। परन्तु यह भी नहीं भूलना चाहिए कि इस समय राष्ट्र के पास विशेषज्ञता की शक्ति की कमी भी है। इसके अलावा हिन्दुस्तान में तो यह खतरा भी है कि 'पंचायती-व्यवस्था' से कारखाने का काम शायद बिगड़ ही जाय। व्यक्तिगत चारित्र्य और देश भक्ति का बहुल्य भी तो अपने यहां नहीं है। दूसरे लोग निःस्वार्थ देश भक्ति का विशेष परिचय नहीं दे रहे हैं तो पूँजीपति-उद्योगपति भी कहां तक ऐसे देशभक्त सिद्ध हो सकते हैं जिन्हें अपने लिए कुछ लेना देना ही नहीं हो। इन तमाम परिस्थितियों में देशवासियों को व्यावहारिक दृष्टिकोण अपनाकर चलना पड़ेगा जिसे पूँजीपति-उद्योगपति भी दूरदर्शिता के साथ आसानी से स्वीकार कर लेंगे।



१५ (क)

प्रवासी राजस्थानी

मैं कुछ महीने बम्बई में रहने के विचार से लगभग बत्तीस साल पहले वहां पहुंचा। हिन्दुस्तान के उस गौरवशाली नगर में मैंने देखा कि वहां पर आमतौर से 'मारवाड़ी' की चर्चा एक बुरे रूप में होती थी। मैं खुद उन दिनों लम्बी अंगरखी और पगड़ी पहिन्ता था और इसलिए 'मारवाड़ी' के रूप में पहिचाना जाता था। अकाउन्टेन्ट जनरल के आफिस में जब मैं इंडियन-ऑडिट-सर्विस की बड़ी परीक्षा देने के लिए उसी वेशभूषा में पहुंचा तो वहां के चपरासियों ने मराठी में बड़े विस्मय के साथ कानाफूसी की—अरे 'मारवाड़ी आला !' इसका कारण यही था कि वे लोग 'मारवाड़ी' से किसी प्रकार की दुकानदारी का या लेन देन का धन्वा कर सकने के अलावा और किसी परीक्षा देने जैसे काम की अपेक्षा नहीं रखते थे। मुझे कभी-कभी तो यह मनोरंजन की सी बात लगती थी पर ज्यादातर मुझे दुःख हुआ करता था कि मेरे प्रिय बन्धुओं को हेय दृष्टि से क्यों देखा जाता है ? धीरे-धीरे मुझे पता चला कि सम्भवतः तमाम देश में ही 'मारवाड़ियों' के लिए इसी से मिलती-जुलती भावना फैली हुई है। उसके पांच सात साल बाद जब मैं कलकत्ता गया तो

मेरा काम अपने 'मारवाड़ी' भाइयों से बहुत पड़ा। उनमें से कुछ के बारे में मैंने अनुभव किया कि वे 'पगड़ी' को इसलिए छोड़ रहे हैं कि उससे उनकी 'मारवाड़ी' होने की पहिचान हो जाती थी। मेरा सहज स्वभाव से ही टोपी लगाने का काम नहीं पड़ा था और मुझे अपने साफे पगड़ी के लिए बड़ा आग्रह था। इसलिए मुझे यह बात बुरी लगती थी कि किसी भी आशंका के कारण कोई अपनी पोशाक को छोड़ने का विचार क्यों करने लगे। किसी दूसरे कारण से यह बात हो तो सवाल दूसरा होगा।

हम सब जानते हैं कि चार पांच पुश्त पहले राजपूताना के कुछ लोग भारत के दूसरे प्रदेशों में कमाने खाने के लिए जाने लगे थे। ऐसा लगता है कि सबसे पहले 'मारवाड़' अर्थात् जोधपुर राज्य के लोगों ने जाना शुरू किया होगा और उन्होंने अपने आपको 'मारवाड़' का बताया होगा। इसलिए वे 'मारवाड़ी' कहलाने लगे होंगे। राजपूताना के प्रायः सभी हिस्सों का पहिनावा मिलता-जुलता था। एक ही प्रकार का पहिनावा होने से उन लोगों को भी 'मारवाड़ी' कहा जाने लगा होगा, जो वास्तव में मारवाड़ से नहीं बल्कि राजपूताना के दूसरे हिस्सों से गये थे। पहले पहल ज्यादातर लोगों ने व्यापार का काम शुरू किया होगा, इसलिए 'मारवाड़ी' और 'व्यापारी' एक ही होने का सम्बन्ध बन गया मालूम होता है। आजकल 'मारवाड़ी कम्प्यूनिटी' बोलने से 'व्यापारी' होने का बोध तत्काल होता है और यह खयाल भी बनता है कि वे लोग बड़े ही धनी हैं। राजपूताना की जयपुर, जोधपुर, बीकानेर, जैसलमेर आदि रियासतों के तथा पंजाब के हरियाना प्रदेश के लोग हिन्दुस्तान के दूसरे प्रदेशों में बहुत बसे हुए हैं और वे सब 'मारवाड़ी' कहलाते रहे हैं। अब चूंकि एक राजस्थान राज्य बन गया है तो उन लोगों को 'राजस्थानी' नाम से भी कहा जाने लगा है। कलकत्ता-बम्बई जैसे शहरों में और अन्यत्र भी राजस्थान के आलावा दूसरे प्रदेशों के लोग भी बहुत बसे हुए हैं, पर सामान्यतया उनकी साधारण स्थिति होने के कारण उनकी ओर शायद किसी का विशेष ध्यान नहीं जाता होगा। इस जमाने में पूंजीपति और पूंजीवाद के प्रति एक भावना विशेष का प्रसार हो रहा है और मारवाड़ी तथा पूंजीपति समानार्थक जैसे हो रहे हैं। इसलिए 'पूंजीपति' के प्रति जो भावना है वह 'मारवाड़ी' के प्रति भी है!

लोगों को यह याद ही नहीं रहता है कि मारवाड़ियों या राजस्थानियों में भी पूंजी वाले लोग बहुत ही कम हैं और उनके अलावा कुछ मध्यम स्थिति वाले होंगे। बाकी तो असंख्य प्रवासी राजस्थानी ऐसे हैं जो केवल मजदूरी का काम करके जैसे तैसे अपना पेट पालन करते हैं।

जब हिन्दुस्तान में आने जाने के साधन नहीं थे या बहुत कम थे उन दिनों अपने साथ जैसा कि हम बोलते हैं केवल 'डोर-लोटा' लेकर हमारे साहसी भाइयोंने घर छोड़ा और वे कहीं के कहीं पहुंच गये। वे प्रायः पढ़े लिखे नहीं थे। अन्य प्रदेशों की भाषा जानने का तो सवाल ही नहीं था। उनके पास पूंजी आदि के साधन भी नहीं थे। उनके पास किसी प्रकार की सत्ता नहीं थी। उनके पास था उनका साहस और उनका परिश्रम एवं उनके पास थी उनकी लगन और उनकी अक्ल ! उस जमाने में और दूर देश में उन्होंने अपना रोजगार कितनी मुश्किलों के बीच में शुरू किया होगा, इसकी कल्पना आज हम लोग क्या कर सकते हैं ! कुछ साल हुए तब मैं आसाम गया था। वहां पर मैंने देखा कि प्रायः निर्जन जैसे स्थानों में अकेला एक मकान सा बना हुआ है और वह है 'मारवाड़ी' का। मुझे तो इस जमाने में भी लगा कि वैसे स्थानों में बसना और बने रहना बड़ी हिम्मत का काम है। स्वास्थ्य के लिए जहां की आवहवा ठीक नहीं, जहां का खाना पीना अपने जैसा नहीं, बोली अपनी नहीं, प्रेम से कोई यह कहने वाला भी शायद नहीं कि आओ भाई, बैठो और थोड़ी देर सुस्तालो ! चार पांच पीढ़ी पहले 'विदेश' में पहुंचने वाले 'मारवाड़ियों' ने अथक परिश्रम किया होगा और अकथनीय कष्ट भेले होंगे। उन्होंने अपनी दुकानदारी वैसे ही चलाई होगी जैसे कोई भी दुकानदार चलाते हैं और वाद में वैसे ही किया होगा उन्होंने अपना लेन देन का घन्घा। अपने यहीं पर बनिये के बारे में कुछ बातें प्रचलित हैं ही। और बनिये से क्या मतलब ? जो कोई बनिये का काम करे। सभी घन्घों में ईमानदारी की जरूरत है। बनिये के घन्घे में भी है। पूरा तोलना, वाजिव व्याज लेना आदि सब कुछ होना चाहिए। पर आजकल कौनसे घन्घे में कितनी ईमानदारी है ? मुझे किसी की आलोचना नहीं करनी है, पर मुझे लगता यह है कि शायद ही कोई घन्घा होगा इस युग में जिसे शत-प्रतिशत ईमानदारी और सचाई से सफलता-

पूर्वक चलाना सम्भव हो और इसी प्रकार सभी प्रदेशों में यह हाल होना चाहिए। फिर मारवाड़ी की या उसके द्वारा होने वाले वनिये के वन्ये की अलग से खासतीर से जरूरत से ज्यादा और बेजा निन्दा करना कहां तक न्याय की बात हो सकती है।

किन्हीं लोगों के पास ज्यादा धन इकट्ठा हो गया, यह भी उनका कसूर कैसे माना जा सकता है? यह तो पूंजीवाद की पद्धति का परिणाम है, जिसके लिए देश का या समाज का कोई एक हिस्सा जिम्मेदार नहीं ठहराया जा सकता। मुझे यह सब कुछ न्याय की दृष्टि से सूझ रहा है और उसी दृष्टि से मैं लिख भी रहा हूं। जिन्हें 'मारवाड़ी' कह कर कहीं-कहीं पर कभी-कभी कोसा जाता है उनमें बहुत अच्छे समाज सेवी कार्यकर्ता हैं कई एक। और जिन्हें नवीन अर्थ में कार्यकर्ता शायद नहीं कहा जा सकता उनमें ऐसे बहुत से हो चुके हैं जिन्होंने अपनी कमाई का धन धर्मशाला, कुआ, बावड़ी, औपवालय, पाठशाला आदि बनवाने में दिल खोल कर खर्च किया है। कोई अपना धन स्वर्ग प्राप्ति के हेतु लगाता हो तो वह कोई अपराध नहीं। कोई नाम के लिए लगाता हो तो नाम न चाहने वाले कितने लोग हैं कहीं भी?

१५ (ख)

प्रवासी राजस्थानी

राजस्थान की वीर गाथाएं प्रसिद्ध हैं और हम लोग अपनी पुरानी बातों के कारण गर्व का अनुभव भी कर सकते हैं। हमारे यहां के राज्यों में कला कौशल की उन्नति भी हुई थी। परन्तु समाज व्यवस्था का आधार सामन्तवादी था। इसलिए राजपूताना वालों की कई एक दृष्टियों से पिछड़ा हुआ माना जा सकता था। छोटे-छोटे राज्यों के राजाओं को सब कुछ समझा जाता था। यहां तक कि लोग अपने यहां के जागीरदार को राजा से शायद ही कम मानते थे। हम लोग जानते हैं कि बहुत बड़े मालदार और कई प्रकार से काफी आगे बढ़े हुए लोग भी जागीरदार को अपने घर पर बुलाकर उसको नजर करने में अपना बड़ा गौरव मानते थे। 'राज' के नाम से लोग डरते थे, क्योंकि राज की ओर से उनके साथ चाहे जिस प्रकार की ज्यादती हो जाना सम्भव था। साधन सम्पत्तियों को 'राज' का एक ओर से और भी ज्यादा डर लगता था तथा दूसरी ओर वे अपने आपको 'राज' से सम्बन्धित बताकर अपने बड़प्पन का दिखावा भी करते थे। इसका नतीजा यह हुआ कि राजस्थान के लोग राजनैतिक दृष्टि से पिछड़े हुए रहे और माने गये। जो राजस्थानी राज-

स्थान के बाहर गये उनके साथ भी यही राजनैतिक परम्परा गयी। व्यापारी होने के कारण भी उनके लिए जरूरी बना रहा कि वे 'सरकार' के पक्ष में रहें।

कुछ अपवादों को छोड़कर राजपूताना की रियासतों में शिक्षा की कमी रही। राजस्थान के बाहर जाने वाले राजस्थानी साधारणतया अपने काम के लायक हिन्दी हिसाब तो जानते थे, पर वे शिक्षितों की श्रेणी में नहीं गिने जा सकते थे। इसलिए नयी विचारधाराओं का प्रसार प्रवासी राजस्थानियों में मन्दगति से हुआ। वे सामाजिक दृष्टि से भी पिछड़े हुए ही रहे। स्वभाव से प्राचीनतावादी होने के कारण उनके रीति-रिवाज बाहर भी वैसे ही बने रहे जैसे अपने घर पर थे। इसलिए बाहर के समाज में उनकी निराली और अजीब सी स्थिति दिखायी देती रही। बाहर जाकर सफलता प्राप्त करने वाले राजस्थानी प्रायः सभी व्यापार का काम करने वाले थे। उनकी व्यापार के अलावा किसी दूसरे काम में मुश्किल से ही दिलचस्पी पैदा होती थी। इसलिए उनके जीवन में कई विषयों से अखरने वाली एकांगिता पैदा हो गयी। राजनैतिक और सामाजिक दोनों में पिछड़े हुए होना और अपनी कमाई के अलावा किसी दूसरी बात से मतलब नहीं रखना प्रवासी राजस्थानियों के विषय में गया। परिश्रम, लगन और होशियारी के कारण उन्हें अपने धन्ये में सफलता मिली और फलस्वरूप उनके पास धन आ गया। उस धन का किसी हद तक भले कामों में सदुपयोग हुआ तो कई तरह से उसका प्रदर्शन और कुप्रदर्शन भी हुआ। धन के कुप्रदर्शन के और वनिकों की पारस्परिक प्रतिस्पर्धा ने 'भारवाड़ियों' को बुरे रूप में ही सबके सामने पेश किया।

समय पाकर राजस्थानियों में जागृति आयी। उन्होंने पुराने तरीकों के अलावा नये तरीकों से धन देना और अच्छे कामों में अपना पैसा लगाना शुरू किया। राजनैतिक क्षेत्र में काम करने वाले कार्यकर्ता मैदान में आये और उनसे ज्यादा कार्यकर्ता सामाजिक सुधार का उद्देश्य लेकर प्रकट हुए। अच्छे प्रयत्न का अच्छा परिणाम आना ही चाहिये था और वह आया भी सही। पर धन के साथ कुछ दोष लगे ही रहते हैं, हमारे कारणों के साथ साथ उन

दोषों के प्रभाव से सामाजिक क्षेत्र में प्रगति की चाल धीमी रही है, ऐसा मुझे लगता है। व्यापारी के पास कुशलता तो होती ही है। उस कुशलता के प्रयोग में जब अति होने लगती है तो वह प्रयोक्ता की प्रतिष्ठा के लिए प्रतिकूल प्रभाव उत्पन्न करती है। आजकल यह समझा जाने लगा है कि धनिक लोग अपने पैसे के बल से सब कुछ कर डालना चाहते हैं। किसी धनिक का दान स्वर्ग प्राप्ति के लिए होता होगा, किसी का दान कीर्ति के लिए होता होगा। पर सुनते हैं कि ज्यादातर का दान तो किसी न किसी दूसरे ही मतलब से होता है। खुल्लमखुल्ला कहा जाता है कि दान भी एक तरह का व्यापार हो गया है, क्योंकि दाता का स्वभाव ही व्यापार का है न? हमारे यहां कहावत है कि 'ऊंदरे का जाया तो बिल ही खोद सकता है।' खासतौर से किसी बुरे अर्थ में नहीं, पर यह कहावत व्यापारी पर भी लागू होती है।

मारवाड़ियों में धन का बाहुल्य माना जाता है। पर सचमुच देखा जाय तो उनमें भी धनिकों की संख्या कम ही है। जो वास्तव में बड़े धनिक हैं, वे सामाजिक संगठनों व हलचलों में आगे बढ़कर विशेष भाग लेते हुए दिखायी नहीं देते हैं। चार पांच पुस्त पहले के लोगों में जो गुण थे वे आज वालों में कम होते जा रहे हैं, ऐसा लगता है। जिन गुणों ने धन कमाने में कामयाबी दिखायी वे लुप्त हो जायेंगे तो धन के लुप्त होने की भी पूरी सम्भावना मान लेनी चाहिये। अस्तु ! धनिकों के अलावा जो मध्यम वर्ग के लोग हैं वे आज के कठिन समय में दूसरे मध्यमवर्ग वालों के समान ही पिसते हुए नजर आते हैं और प्रवासी राजस्थानियों का जो एक बहुत बड़ा हिस्सा गरीब लोगों का है उसकी तरफ तो शायद किसी का ध्यान ही नहीं जाता। वे बेचारे किसी भी तरह अपना गुजर करते हैं। इस तरह 'मारवाड़ी' नाम से जो कुछ होता है इसमें मुझे एक प्रकार की शिथिलता और संकुचितता दिखायी देती है। वह तमाम हलचल एक जाति विशेष की सी लगती है जिसका नतीजा कुल मिलाकर ठीक नहीं आ सकता। जिन प्रदेशों में 'मारवाड़ी' बसे हैं, वहां के लोगों में उनके प्रति अधिक मात्रा में कुभावना रही है, ऐसा हमें बराबर सुनने को मिला है। आजकल यह भी सुना है कि वह कुभावना अपेक्षाकृत कम हुई

है। मुझे इस बारे में सही जानकारी नहीं है। जो हो प्रवासी राजस्थानियों के धनिक वर्ग को भी स्थानीय जनता के साथ समरसता का अनुभव करने की अधिकाधिक आवश्यकता मालूम हो रही है। साथ ही उसमें से कई लोग राजस्थान में भी अधिक दिलचस्पी लेने की बात करने लगे हैं। वह दिलचस्पी राजनैतिक दृष्टि से भी हो सकती है और राजस्थान के आर्थिक विकास की दृष्टि से भी। धनिक वर्ग की जो परम्परा पड़ी हुई है उस पर से इस नयी दिलचस्पी को भी दूसरे लोग शंका की दृष्टि से ही देखते हुए मालूम पड़ते हैं।

अमुक पृष्ठभूमि में जो अमुक परिस्थितियाँ उत्पन्न हुई हैं, उनमें क्या होना चाहिए इस विषय में बाद में लिखने का मेरा विचार है।

३५ (ग)

प्रवासी राजस्थानी

जमाने का प्रवाह समानता की ओर जा रहा है। किसी को यह बात पसन्द हो या न हो, कोई जमाने की इस चाल को देख सकता हो या न देख सकता हो, पर वस्तु स्थिति यह है। जमाने का यह प्रवाह न रोका जा सकता है, न मोड़ा जा सकता है। जो बड़ा परिवर्तन आने वाला है उसे शांति के साथ और क्रमशः न आने देने का प्रयत्न किया जायगा तो वह बड़े वेग के साथ तोड़ फोड़ करता हुआ आयेगा। साम्यवाद की अपील बड़ी जोरदार है और वह गरीबों के दिल पर जादू का सा असर करती है। साधनहीन के हृदय में साधन सम्पन्न के प्रति घृणा का भाव पैदा कर देना बहुत आसान है। घृणा का जो परिणाम आ सकता है वह भी देखने वालों को साफ दिखायी देना चाहिए। घृणामय और अशान्तिमय तथा हिंसात्मक प्रवृत्ति को रोकने का एक ही उपाय है कि जो परिवर्तन अवश्यम्भावी है उसे सहज स्वभाव से होने दिया जाय और उस परिवर्तन को लाने के कामों में सचाई के साथ योग दिया जाय। चार पांच पुस्त पहले के प्रवासी राजस्थानी जिस जमाने में रहते थे वह जमाना अब नहीं है। उस जमाने में वे अपने अनेक गुणों के कारण व्यक्तिगत

आधार पर घनोपार्जन करने में सफल हो गये। आज के प्रवासी राजस्थानियों के घनिक वर्ग में वे गुण लुप्त नहीं हुए तो कम अवश्य हो गये हैं और उन गुणों का स्थान अय्याशी, आराम तलवी व आमोद प्रमोद को मिलने लग गया है। युवक व्यापारियों में नये गुण भी आये हैं। इसके अलावा देश के दूसरे घनिकों के साथ साथ प्रवासी राजस्थानी घनिकों के प्रति भी आमतौर से जनता के हृदय में सद्भावना बहुत कम होती जा रही है। वल्कि यह भी कहा जा सकता है कि प्रवासी राजस्थानियों के प्रति विद्वेष की भावना अपेक्षाकृत कुछ ज्यादा है। क्योंकि प्रवासी राजस्थानी अपने मूल प्रान्त को छोड़कर दूसरे प्रान्तों में सम्पन्न हुए और उन्होंने सम्बन्धित प्रान्तों के निवासियों के मुकाबिले में कहीं ज्यादा कामयाबी हासिल करली। विभिन्न प्रान्तों के प्रवासी राजस्थानी उन प्रान्तों के निवासियों को अपने नहीं दिखायी देते। किसी भी गरीब को कोई भी घनिक अपना नहीं दिखायी देगा, पर जब वह और कहीं से आया हुआ और कोई दूसरी ही भाषा बोलने वाला तथा दूसरे ही रीति रिवाज वाला एवं तुलना में कम शिक्षित होगा तब तो ईर्ष्या द्वेष के भाव अवश्य ही उग्र रूप धारण कर लेंगे।

प्रवासी राजस्थानियों के घनिकवर्ग को जमाने के इस प्रवाह को तथा उनकी जो विशेष स्थिति दूसरे राज्यों में है उसे भी अच्छी तरह से देखना समझना चाहिये और उन्हें स्थानीय लोगों के साथ भेदभाव के बजाय आत्म-भाव बढ़ाना चाहिए और जो बहुत से गरीब प्रवासी राजस्थानी पड़े हुए हैं, उनके साथ भी आत्मीयता अनुभव करनी चाहिए। इन समय 'मारवाड़ी' शब्द से जो एक जाति विशेष का बोध होता है उसकी जगह 'राजस्थानी' शब्द से उन तमाम लोगों का बोध होना चाहिये जो घनिक, मध्यम वर्ग के या गरीब कोई भी हों और किसी भी जाति के हों। और उन सब लोगों को मिलकर स्थानीय जनता के साथ घुलमिल कर रहने की आदत डालनी चाहिये। यह ठीक है कि आजकल भी प्रवासी राजस्थानी जिन जिन दूसरे राज्यों में बसे हुए हैं वहां वहां के सावजनिक कामों में दिलचस्पी लेते हैं और सहयोग देते हैं। पर यह प्रवृत्ति बहुत बढ़नी चाहिए। मैं ऐसे प्रवासी राज-

स्थानियों को जानता हूँ जो अमुक राज्य में रहते हुए ठीक उसी राज्य के निवासियों जैसे लगते हैं और जिन्हें बहुत नजदीक से देखे बिना पहिचानना मुश्किल है कि वे किसी दूसरे राज्य से आकर बसे हुए होंगे। उन्होंने अपनी कमाई का अच्छा हिस्सा वहीं की जनता की उन्नति व भलाई के लिए खर्च किया है। इस जमाने में धनिक के प्रति जो कुभावना कहीं भी हो सकती है वह सम्भवतः उनके प्रति भी हो तो मुझे पता नहीं है, बाकी जहाँ तक मैं देख सका हूँ मुझे तो वे स्थानीय लोगों के साथ पूरे तौर पर घुले मिले हुए देख पड़े हैं।

जहाँ तक राजनीति का सम्बन्ध है वह आने वाले जमाने में जातियों के आधार पर नहीं चल सकेगी। आज तो जाति का प्रभाव कुछ अधिक है, पर उसे क्रमशः घटना चाहिए। जो हो, प्रवासी राजस्थानियों की राजनीति अलग से नहीं चल सकती। तमाम राजनीति का आधार अन्ततोगत्वा जनता की राय है और किसी भी क्षेत्र के तमाम प्रवासी राजस्थानी मिलकर भी जनता का स्थान नहीं ले सकते और उनके धन का प्रभाव भी थोड़े समय के लिए उन्हें व्यक्तिगत लाभ पहुंचाने वाला भले ही हो जाय, पर उन्हें राजनैतिक दृष्टि से आगे बढ़ाने वाला नहीं हो सकता। इसका मतलब यही है कि जो राजनीति में आगे बढ़ना चाहते हों उन्हें स्थानीय जनता के प्रिय-हर तरह से बनना चाहिए। प्रिय बनने के लिए सेवाभाव और सेवा कार्य की आवश्यकता होगी और ऐसा विश्वास उत्पन्न करने की आवश्यकता होगी कि ये लोग आगे चलकर जरूर ही जनता के लिए कुर्बानी करके भी कुछ अच्छा ही करने वाले हैं। एक तो स्थानीय जनता की निगाह में अपने न होकर बाहर के होने से प्रवासी राजस्थानियों के लिए राजनीति की स्थिति कठिन है। दूसरे, राजस्थानियों की एकांगिता भी उनके मार्ग में बाधक होगी। उनमें से अधिकतर ने अब तक अपना धन्धा करके कम या ज्यादा पैसा कमाने के अलावा दूसरी प्रवृत्तियों में भाग ही नहीं लिया। इसलिए वे लोगों को पैसा कमाने वाली मशीन से दिखायी देते हों तो आश्चर्य की बात नहीं माननी चाहिए। तीसरे, उनकी दृष्टि में व्यापकता नहीं रही। उन्होंने अपने आपको कुछ लोगों तक ही सीमित रखा और आम जनता में नहीं फैलाया। इतनी कठिनाइयों के बावजूद

भी राजनीति के कार्य में प्रवासी राजस्थानी अग्रसर होने का सामर्थ्य प्राप्त कर सकते हैं, वगैरे कि वे कुछ नयी बातों को अपना सकें। उद्योग व व्यापार के लिए संस्थाएं बनी हुई हैं। उनमें भी प्रवासी राजस्थानियों को दूसरे लोगों के साथ मिलकर ही काम करना होगा और राजस्थानी गैर राजस्थानी के भेद को मिटाना होगा। उद्योग व्यापार के क्षेत्र में स्वयं राजस्थानियों में भी प्रतिस्पर्धा की कमी नहीं है। अपने अपने धन का प्रदर्शन करने के लिए वे एकदम अस्वास्थ्यकर दौड़ में लगे हुए दिखायी देते हैं। यह भव कुछ बुरा है लेकिन मनुष्य स्वभाव के विपरीत नहीं है। अपने विशेष हितों के संरक्षण की बात अब कुछ चलने वाली नहीं है फिर भी जो कुछ करना हो वह सम्बन्धित लोगों के सहयोग से ही ठीक हो सकता है। अब रहा सामाजिक सुधार का सवाल। उसके लिए प्रवासी राजस्थानियों का अलग संगठन भी काम कर सकता है। पर उस काम का अच्छा नतीजा तभी आ सकता है जब सुधारक माने जाने वाले अथवा सुधार की आगे बढ़ बढ़ कर बात करने वाले खुद अपने यहीं सच्चा सुधार करके दिखाएं। पर्दे की कुप्रथा को हटाना तो बिल्कुल ही मुश्किल नहीं होना चाहिए। सतत प्रचार किया जाय और पर्दा परित्याग के वास्तविक उदाहरण लगातार पेश किये जायें तो यह काम जल्दी हो सकता है, क्योंकि जमाना अनुकूल है और अपने पास से लगता कुछ नहीं है। दहेज का काम अवश्य कठिन है और इसके लिए नवयुवकों और उनके घर वालों की ओर से त्याग की जरूरत होगी। पर कोशिश करने से इसमें भी सुधार हो सकता है। सामाजिक सुधार के मामलों में यह ध्यान भी रहना चाहिए कि सुधार के नाम पर कहीं बिगाड़ तो अपने यहां नहीं हो रहा है। एक प्रकार का दिखावा थोड़ा बहुत बन्द कर दिया जाय और उसके बदले में दूसरे प्रकार का दिखावा ज्यादा हो जाय तो फिर सुधार क्या हुआ? मेरा विश्वास यह है कि देश के आर्थिक परिवर्तन बड़े पैमाने पर होंगे। उनके साथ ही साथ सामाजिक सुधार आसानी से हो जायेंगे। परन्तु समाज सुधारकों को तब तक इन्तजार करते नहीं बैठना है। उनसे हो सके उतना प्रयत्न उन्हें करते ही रहना चाहिए पर जो कुछ हो वह मन बहनाव के तौर पर नहीं होकर, ठोस आधार पर होना चाहिए।

१५ (घ)

प्रवासी राजस्थानी

प्रवासी राजस्थानियों की स्थिति अन्य राज्यों में कैसी क्या है सो हम बहुत कुछ देख चुके हैं। उनमें से कुछ लोगों के हाथ में अच्छी मात्रा में बड़ा उद्योग है और उनकी स्थिति अच्छी ही नहीं बल्कि पिछले सालों से कुछ ज्यादा अच्छी बनी हुई दिखाई देती है। जब तक समाज के "समाजवादी नमूने" की बात देश में खास आगे नहीं बढ़ती है अर्थात् जब तक उद्योग क्षेत्र में प्रायवेट सेक्टर को स्वीकार किया हुआ है तब तक भारतीय उद्योगपतियों के लिए विशेष चिंता करने का कारण नहीं है। इसलिए प्रवासी राजस्थानी उद्योगपतियों का काम भी जहां कहीं वे हैं वहीं पर चलता रह सकता है। परन्तु कई लोगों की जवान से यह शिकायत सुनी गयी है कि राज्य सरकारों की नीति प्रवासी राजस्थानी व्यापारियों के हक में ठीक नहीं है। हाल ही में एक जिम्मेदार सज्जन ने मुझसे यहां तक कहा कि अमुक राज्य सरकार के मुख्य मन्त्री ने निश्चय कर रखा है कि मारवाड़ियों के हाथ से तमाम काम निकलवा दिया जाय। ऐसा ही हो या न भी हो, पर यह सही है कि कई एक राज्यों में अन्य भाषा भाषी लोगों की और खासतौर से मारवाड़ियों की स्थिति कठिन

अवश्य है और वह और भी ज्यादा कठिन हो सकती है। यह तो एक स्थिति है जो प्रवासी राजस्थानियों को चिंतित कर सकती है और जिससे कुछ लोगों का ध्यान राजस्थान की तरफ खिंचता हुआ मालूम हो सकता है। पर मुझे लगता है कि यदि प्रवासी राजस्थानी स्थानीय लोगों के साथ पूरे तौर पर हिलमिल कर रहें और आपस में भी भेदभाव मिटाकर मेलजोल रखें तो उनके लिए अन्य राज्यों में अपना काम काज जारी रखने के मार्ग में कोई बड़ी बाधा नहीं आयेगी। अस्तु।

आखिर असल सवाल तो यह है कि प्रवासी राजस्थानियों का राजस्थान के प्रति क्या कर्तव्य हो सकता है और वे उस कर्तव्य का निर्वाह किस प्रकार कर सकते हैं। पिछले समय में जनसेवा के लिए, पुण्य के लिए, या नाम के लिए भी जो कुछ प्रवासी राजस्थानियों की ओर से अपने अपने जन्मस्थानों में या राजस्थान में कहीं भी होता रहा, वह उस जमाने के हिसाब से ठीक था। पर अब परिस्थितियाँ बहुत बदल गई हैं। प्रवासी राजस्थानियों की वर्तमान पीढ़ी का मन और सोचने का तरीका भी बदला हुआ लगता है वे लोग कब अपने आराम और सुविधाओं को छोड़कर राजस्थान में थोड़े बहुत समय के लिए भी जाने को और खर्च करने को बहुत उत्सुक नहीं दिखायी देते हैं। सच बात तो यह भी है कि क्रमशः अपने पिता, पितामह और प्रपितामह के मुकाबिले में बहुत नाजुक भी हो गये हैं। पुराने लोगों की सी सादगी और कष्ट सहिष्णुता अब कहाँ है? रहन सहन का स्टेण्डर्ड भी बहुत बढ़ गया है। समाज सुधार के नाम पर पुरानी प्रथाएँ भी उठती जा रही हैं। व्याह-शादी जहाँ पर लोग रहते हैं वहीं पर ज्यादा आराम से कर सकते हैं। पुराने लोगों के जी में एक स्वभाविक भाव अपने जन्मस्थान में अपनी विशेषता का प्रदर्शन करने का भी रहता था। पर जिनका जन्म राजस्थान में नहीं हुआ और जिन्होंने अपने बाप दादों के जन्मस्थान को देखा ही नहीं वे अपनी विशेषता का प्रदर्शन करने के लिए राजस्थान में आने की बात क्यों कर सोचें।

इस जमाने में जागृत और उत्साही प्रवासी राजस्थानियों की राजस्थान में नयी दिलचस्पी अपना व्यापार व्ययसाय बढ़ाने की अथवा राजनतिक क्षेत्र में कुछ पा लेने की दृष्टि से हो सकती है। मेरी निगाह में यह अस्वाभाविक

बात नहीं और इस बारे में अन्यथा सोचने की जरूरत नहीं है। परन्तु इतना अवश्य है कि ऐसी दिलचस्पी इसके दुक्के व्यक्तियों को छोड़कर विशेष फल-दायी होती हुई नजर नहीं आती। राजनैतिक क्षेत्र में तो ऐसी दिलचस्पी प्रतिकूल टीकाटिप्पणी और बदनामी का कारण भी बनती है। बिना कुछ करे धरे केवल पैसे के बल पर अपना अखाड़ा जमाने की कोशिश करना सम्बन्धित लोगों को जनता की राय में ऊंचा नहीं उठने देगा बल्कि नीचे गिरा सकता है। किसी प्रकार की रचनात्मक सेवा को निमित्त बनाकर राजनैतिक क्षेत्र में अपना स्थान बनाने का ध्यान होगा तो वह बात भी लोगों की निगाह में जरूर ही खटकने लग जायगी, हालांकि आज के जमाने में राजनैतिक स्वार्थ सिद्धि के लिए किसी भी प्रकार के अच्छे बुरे निमित्त बनाये ही जाते हैं।

प्रवासी राजस्थानियों में आज भी गुणों की कमी नहीं है। उनमें एक प्रकार की प्रतिभा है और उनमें व्यावहारिक कुशलता बहुत है। परन्तु उनके दृष्टिकोण कुछ सीमित से लंगते हैं। विशाल और व्यापक दृष्टिकोण बनाकर प्रतिभाशाली प्रवासी राजस्थानी अपनी प्रतिभा का उपयोग राजस्थान की भलाई के लिए करना चाहें तो उनके सामने बहुत बड़ा मौका है और वह मार्ग इस समय कुछ अवरुद्ध सा मालूम होता हो तो वह शीघ्र ही खुल भी सकता है। देश में बहुत सी योजनाएं बनती हैं और उन योजनाओं के अन्तर्गत बहुत पैसा खर्च करने को उपलब्ध होता है। प्रवासी राजस्थानियों के पास बुद्धि है और पूंजी भी है। वह पूंजी और बुद्धि भी अन्ततोगत्वा समाज की और राष्ट्र की है और उस पूंजी व बुद्धि का उपयोग समाज व राष्ट्र के लिए ही होना चाहिए। इस प्रकार अपनी पूंजी व बुद्धि को देने वाले कोई होंगे तो उनके स्वागत का समय भी आ ही गया समझिये। केन्द्रीय सरकार, राज्य सरकार और अधिकारी राजस्थानियों व प्रवासी राजस्थानियों को मिलकर सोचना पड़े कि राजस्थान का विकास किन-किन दिशाओं में होना चाहिए और हो सकता है। देश भर में चारों ओर कई एक काम हो रहे हों तो राजस्थान में भी कुछ काम तो अनायास ही हो सकता है। पर वैसे काम से राजस्थान का योजनावद्ध विकास कैसे हो जायगा? मैंने पिछले दिनों कई बार बार कहा है कि प्रवासी राजस्थानी केवल अपने नफे की निगाह से सोचें तो

वह मुश्किल बात होगी। इस प्रकार राजस्थान में नफा मिलना गुप्ते मुश्किल भी दिखायी देता है। याद करके देखा जाय तो मालूम होगा कि अग्रणी प्रवासी राजस्थानियों को भी दूसरे राज्यों में पहुँचते ही श्रीर आसानी से तो नफा नहीं मिल गया था। उस जमाने के परिश्रम और कष्ट की तो कल्पना करना ही मुश्किल है। परिश्रम और कष्ट का सामना राजस्थान में इस नये जमाने में भी करना पड़ेगा। यह सब कुछ उद्योग व्यापार के क्षेत्र में होगा तो राजनैतिक क्षेत्र का लाभ भी स्वतः ही मिल सकना चाहिए। साथ में सेवा का भाव मिल जाय और दृष्टि स्वायंपूर्ण व संकुचित न रहे तो अच्छे से अच्छा परिणाम आ सकता है। जब तक देश में व्यक्तिगत नफे की पद्धति चालू है तब अपने नफे के अलावा देश के लिए होने वाले नफे का दृष्टिकोण अपनाये बिना कोई लाभ नहीं होगा। देश के लाभ में व्यक्ति का लाभ सन्निहित है और इसी दृष्टिकोण से प्रवासी राजस्थानी कुछ कष्ट उठाकर भी राजस्थान में कुछ काम करें तो न केवल राजस्थान का भविष्य उज्ज्वल है अपितु उनका तथा समूचे देश का भविष्य भी उज्ज्वल है। साथ ही आने वाले कठिन समय से भी उन्हें सहज ही छुटकारा मिल जायगा।

विनोबाजी के साथ

इन पंक्तियों में मैं समय समय पर अपनी बात भी लिख देता हूँ। अपने लिए कुछ न चाहते हुए आजीवन भला काम करते रहने का अपना जो संकल्प है उसे निभाने की रीति और भले काम के प्रकार समयानुसार बदल सकते हैं। इसलिए जागरूक मनुष्य के नाते यथाशक्ति सत्य की खोज में लगे रहना जरूरी होता है। पिछले ७-८ महीनों से उस खोज में मैं खास तौर से लगा हुआ हूँ। उसी सिलसिले में मैं बिहार में विनोबाजी के पास भी पहुँचा हूँ।

मेरे इधर पहुँचने के बाद इस समय पांचवें दिन का प्रातःकाल है। पहिला दिन तो मैंने विनोबाजी के नित्य के कार्यक्रम की और उनकी पदयात्रा की व्यवस्था की जानकारी करने में तथा अपना खुद का डेरा जमाने में लगा दिया। विनोबाजी का उस दिन का पड़ाव घनवाद में था। मेरा डेरा भरिया में लगा। दूसरे दिन का पड़ाव राजगंज में हुआ जहाँ मैं भरिया से विनोबाजी के पास पहुँच गया। बीस मिनट में मैंने अपनी स्थिति विनोबाजी को बता दी और एक दौड़ती हुई सी जवानी प्रश्नावली उनके सामने रख दी जिससे वे जान सकें कि किस प्रकार के पात्र को उन्हें क्या बताना है? यह तै हुआ कि मैं प्रतिदिन की पदयात्रा के उत्तर भाग में विनोबाजी के साथ लगभग चार

मील तक पैदल चलूं और उस समय वे अपने तरीके से मेरे प्रश्नों को ध्यान में रखते हुए चर्चा करते जायें।

विनोबाजी की यह पैदल यात्रा मुझे बड़ी दिलचस्प लगी। विनोबाजी को एक विलक्षण व्यक्ति के रूप में मैं प्रायः पच्चीस साल से जानता हूँ। मैं गांधीजी के पास जाया करता था, तब यथावसर विनोबाजी के साथ भी मेरा समागम हुआ करता था। विनोबाजी का दिमाग एकदम साफ है और ऐसा लगता है कि उन्हें कोई उलझन नहीं सताती है। उनका सोचने का एक तरीका है। अपने विचारों को प्रकट करने की उनकी एक शैली है और उनकी एक विशेष प्रकार की शब्दावली भी है। वे इधर उधर बहुत कम देखते हैं और बोलते भी बहुत कम हैं। उनकी निगाह कई बार ठहरी हुई सी लगती है। वे अपनी बात और अपनी रीति के बहुत पक्के हैं। विनोबाजी नित्य प्रातः २॥ वजे के करीब उठते हैं। ३॥ वजे वे सबके साथ प्रार्थना करते हैं और ४॥ वजे पदयात्रा के लिये चल पड़ते हैं। विनोबाजी की मंडली में बराबर साथ रहने वाले व्यक्ति पांच सात से ज्यादा नहीं हैं। कुछ लोग थोड़े समय के लिये आते हैं। और बाकी कई एक कार्यकर्ता भी साथ हो जाते हैं इस प्रकार पचासों आदिमियों की मंडली चलती हुई नजर आती है। अंधेरा रहता है इसलिये आगे पीछे दो तीन लालटेन रखनी होती हैं। विनोबाजी की तेज चलने की आदत है। आजकल धीरे चलते हैं तब भी वे एक घंटे में तीन मील की चाल से चलते हैं।

पदयात्रा अवाच गति से चलती है। आज चलते चलते काफी जोर का का पानी बरसने लगा। पानी बरसता रहा और विनोबाजी तथा साथ के लोग भीगते हुए चलते ही रहे। रास्ते में जगह जगह तोरण बने हुए मिलते हैं और जो लोग दोनों ओर खड़े रहते हैं वे भक्तिभाव से प्रणाम करते हैं। कई लोग उत्साह के साथ पुष्पमालाएं अर्पित करते हैं। जोशीले लोग "महात्मा गांधीजी की जय" "संत विनोबाजी की जय" "संत विनोबा अमर हो" "भूदान यज्ञ सफल हो" इत्यादि नारे लगाते हैं। विनोबाजी प्रणाम करने वालों के नामने उनका ध्यान उधर जाता है तो हाथ जोड़ लेते हैं। बाकी तो वह चलते रहते हैं।

पड़ाव के गांव के पास पहुँचने पर प्रायः शंखध्वनि के साथ शानदार और व्यवस्थित स्वागत होता है। पड़ाव पर पहुँचने पर विनोबाजी एकत्रित लोगों से थोड़ा सा कहते हैं। विनोबाजी के प्रणाम करने के तरीके में एक जादू सा लगता है। साधारणतया तो विनोबाजी नये तुले शब्दों में धीमे धीमे बात करते हैं। पर एक पड़ाव पर उन्हें जोश जैसा आया और वे गाने लगे—“हमारे गांव में बिना जमीन, कोई न रहेगा कोई न रहेगा—” और “हमारे गांव में दुखी गरीब, कोई न रहेगा कोई न रहेगा”। विनोबाजी का वह सुरीला गाना मनोमोहक था। लोग भी उनके साथ-साथ गाने लगे। वे दोनों हाथों को ऊपर करके हिलाते हुए “कोई न रहेगा” की पुष्टि करने के लिये नकारात्मक संकेत भी करते जाते थे। वह वातावरण अलौकिक सा लगता था और उसमें उपस्थित जन समूह के संकल्प की उद्घोषणा जैसी हो रही थी।

दोपहर के बाद तीन बजे प्रार्थना सभा होती है जिसमें सबसे पहले मुख्य रूप से पन्द्रह मिनट की प्रार्थना व रामधुन होती है। फिर होता है विनोबाजी का प्रवचन जिसमें प्रायः एक घंटा लगता है। विनोबाजी अपनी “गीता प्रवचन” नामकी पुस्तक को खरीदने की सिफारिश करते हैं और जो पुस्तक खरीद कर उनके पास पहुँचते हैं उनकी पुस्तक पर वे “नीत्य पठनीय विनोबा” ऐसे लिख देते हैं। सभा की शान्ति अनुपम होती है। किसी ओर से किसी प्रकार का दूसरा शब्द सुनने को नहीं मिलता है। विनोबा जी की समय की पावन्दी अच्छी है। वे समय पर पहुँचकर अपना काम शुरू कर देंगे, किसी का इन्तजार करने का कोई संवाल नहीं। ऐसा भी लगता है कि किसी संयोग से यथेष्ट शान्ति न रहे तो वे बोलें ही नहीं।

विनोबाजी का भाषण का तरीका भी अनूठा है। वे थोड़े में बहुत कुछ कह डालते हैं। गंभीर भाषण होता है, पर सुनने वाले ऊबते नहीं हैं, बल्कि बीच बीच में उन्हें हंसने का मौका भी मिल जाता है। विनोबाजी को २०-२५ साल पहले तो शायद हंसी आती ही नहीं होगी, और आजकल भी वे कम हंसते हैं, पर जब हंसते हैं तो गांधीजी की तरह तो नहीं, फिर भी दिल खोलकर हंस लेते हैं। धनवाद की सभा में उन्होंने कहा कि—यह मजदूरों का

इलाका कहा जाता है और हम चाहते हैं कि तमाम लोग मजदूर बन जायें। यानी पसीने से रोटी कमाकर खाने वाले बन जायें। राजगंज की सभा २५ दिसम्बर को हुई थी सो विनोबाजी ने अपने सारे भाषण में केवल ईसा का गुणगान किया। बोलते बोलते कम से कम दो बार उनका कंठ अवरोध हो गया और उन्हें अपना भाषण समय से पहले ही समाप्त करना पड़ा—“भाइयो इससे आगे हम बोलने में असमर्थ हैं।” विनोबाजी भक्तों की चर्चा के समय इतने भावुक से हो जा सकते हैं, यह जरा विचित्र सी बात समझी जायगी। मलकेरा की सभा में विनोबाजी ने कहा किसी समय पांच वर्ग थे, फिर चार हुए, फिर हम तीन की भाषा में बोलने लगे और आजकल दो का एक बहुत प्रिय हो गया है और कुछ लोग द्वंद्व के अनिवार्य संघर्ष की बात करते हैं। विनोबाजी का आशय यह था कि अब दो के बजाय एक हो जाने का समय आ गया है और जब एक हो गये तो संघर्ष किन के बीच? कल भूरिया की सभा में विनोबा जी ने भारत की दिखायी देने वाली विभिन्नता के बीच में व्याप्त वास्तविक एकता का अत्यन्त सुन्दर विवेचन किया। उन्होंने बताया कि भारत की एकता अनादि काल से चली आ रही है। भारत की यह विशेषता होनी चाहिए कि वह अपने तमाम मतलों को शान्ति के द्वारा हल करे। ऐसा होगा तभी संसार में शान्ति कायम रह सकेगी और तभी भारत जनता की स्वाधीनता की रक्षा कर सकेगा।

मेरी प्रश्नावली के उत्तर में विनोबा जी सर्वोदय का मूढम दृष्टि से देखा जा सकने वाला समूचा रूप प्रस्तुत कर रहे हैं। सर्वोदय की दृष्टि, सर्वोदय की बुनियाद और सर्वोदय जीवन का चित्र ये तीन अध्याय हो चुके हैं। विनोबाजी ने यह बतलाया है कि गांधीजी से उन्होंने बहुत कुछ पाया, पर आजकल वे जो विवेचन कर रहे हैं उसमें कुछ बात ऐसी हो सकती है जो गांधीजी के द्वारा प्रकट होने वाले अमुक मन्तव्य से भिन्न पड़ती हो। विनोबाजी से मैं जो कुछ आजकल सुन रहा हूँ उसके सम्बन्ध में मैं भुविधानुसार लिखूंगा।

१६ (ख)

विनोबाजी के साथ

पिछले लेख में मैंने २८ दिसम्बर की प्रातःकाल की पदयात्रा तक का जिक्र किया था। उस दिन की प्रार्थना सभा बलियापुर में हुई। विनोबाजी ने अपने प्रवचन में इस बात पर जोर दिया कि मनुष्य के पास उसकी जरूरत से ज्यादा कोई चीज हो तो उसे चाहिये कि वह उसका हिस्सा करके दूसरे जरूरत मन्द को निःशंक होकर दे दे और यह भरोसा रखे कि उसे खुद को जरूरत पड़ेगी तब वह कहीं न कहीं से अवश्य पूरी हो जायगी। इस बात को सिद्ध करने के लिये विनोबाजी ने कुछ आप बीती बातें सुनायीं। विनोबाजी का आग्रह यह है कि प्रत्येक मनुष्य अपने और अपने परिवार के साथ-साथ पड़ोस वाले भाई का भी ख्याल रखे और सुख दुःख में उसका संगी बने। २९ तारीख का पड़ाव दामोदर नदी के उस पार चेलियामा में था। नदी किनारे एक ओर से सामान पहुंचा और दूसरी ओर से विनोबाजी की मंडली कुछ देर बाद आ पहुँची। मोटर या कोई सवारी नदी पार नहीं जा सकती थी। सामान को दूसरे किनारे ले जाने की व्यवस्था नहीं हो पाई थी। विनोबाजी खुद ही सामान उठाने को चलने लगे। नदी में जहां पानी नहीं था वहां भी चलना आसान नहीं था और पानी में होकर उस पार जाना तो जरूर ही

मुश्किल था । लेकिन बड़े आनन्द से मंडली ने नदी को पार किया और सामान भी दूसरे किनारे पहुंचा दिया गया । उस दिन की स्थिति में विनोबाजी के साथ प्रतिदिन होने वाली चर्चा बन्द रखनी पड़ी । पर विनोबाजी ने राजस्थान के हालचाल पूछना शुरू कर दिया । मुझे जैसा मालूम है वह सब कुछ मैंने संक्षेप में विनोबाजी को बताया । मैंने विनोबाजी की इस दिलचस्पी पर खुशी प्रकट की । तब वे बोले—तमाम हिन्दुस्तान में सर्वोदय का काम होता है तो मुझे प्रत्येक राज्य के हालात मालूम होने ही चाहिये । चेलियाना की प्रार्थना सभा के प्रवचन में विनोबाजी ने ग्रामोद्योग और ग्राम स्वावलंबन की कई एक उदाहरणों के साथ सुन्दर व्याख्या की । ३० दिसम्बर की रघुनाथपुर की प्रार्थना सभा में विनोबाजी ने कहा कि भारत में पुराने जमाने में मनुष्य का शिकारीपन छुड़वाकर उसे खेती में लगाया गया और इस प्रकार समाज में मनुष्य के अहिंसक जीवन का प्रारंभ किया गया । और बाद में अपने नये जमाने में गांधी जी ने समाज और राष्ट्र के बड़े मसलों को अहिंसक रीति से हल करने का महान् उदाहरण पेश किया । इसलिये “धन्य भारते जन्म” यह ठीक ही कहा गया है । बिहार राज्य का आखिरी पड़ाव ढाकशिला में हुआ । ढाकशिला पड़ाव पर पहुँचते ही विनोबाजी ने अपने छोटे से भाषण में बताया कि सद्-विचार को स्वयं भगवान की अनुकूलता मिलती है जिससे उस सद्-विचार का प्रचार और उसके अनुसार काम होना आसान होता है । हम अपने काम के बारे में यह न समझें कि जमाने का प्रवाह अपने प्रतिकूल है । भगवान की अनुकूलता के कारण तमाम प्रवाह अपने अनुकूल ही हैं, यह मानकर हमें आत्मविश्वास के साथ अपना काम करना चाहिए । ढाकशिला की प्रार्थना सभा में बिहार राज्य में अब तक हुए भूदान के काम का विवरण पेश किया गया और बताया गया कि ३२ लाख एकड़ के कोटा के मुकाबले में २३ लाख एकड़ जमीन मिली है । बिहार के मुख्यमंत्री और बिहार प्रदेश कांग्रेस कमेटी के विदाई के संदेश लेकर राज्य के उद्योग मंत्री आये थे तो सभा में गुनाये गये । विनोबाजी का केवल १५ मिनट का प्रवचन हुआ जिसमें उन्होंने बिहार भूमि की प्रशंसा करते हुए बुद्ध, महावीर, जनक और गांधीजी का स्मरण किया और अपनी खुद की त्रुटियों के लिए क्षमा चाही । विनोबाजी की क्षमा यानना

का तमाम वातावरण पर गहरा आध्यात्मिक असर पड़ा और खुद विनोबाजी अश्रुविन्दुओं के साथ गद्गद होगये। विनोबाजी ने १ जनवरी को बंगाल में प्रवेश किया। पर मैं उनसे तीन दिन की छुट्टी लेकर नीमड़ी, पुरलिया और भरिया की ओर चला गया था और आज इधर आसनसोल के कोयला क्षेत्र से बंगाल के तीसरे पड़ाव पर विनोबा जी के पास पहुँचूँगा।

मेरी चर्चा के तीन अध्याय समाप्त होने का जिक्र मैं पिछले लेख में कर चुका हूँ। चौथे अध्याय में विनोबा जी ने बताया कि सर्वोदय समाज की रचना करने के प्रयत्न तो चलते ही रहेंगे, पर बीच के समय में आज के पश्चिमी नमूने के जनतंत्र में भी सत्ता पक्ष और विरोधी पक्ष या पक्षों के अलावा एक निष्पक्ष समाज का निर्माण होना चाहिये जो किसी की नीयत पर शंका न करे और जो पक्षपात में न पड़ते हुए सभी के अच्छे कामों को अच्छा और बुरे कामों को बुरा बता सके। सत्ता पक्ष को यह समझना आवश्यक है कि उसका अंत होने में ही उसका भला है। पाँचवें अध्याय में प्रत्यक्ष कार्यक्रम के सिलसिले में विनोबाजी ने साध्मवाद और साम्ययोग के अंतर का सूक्ष्म विवेचन किया और विधि निषेध का अर्थात् उनके करने योग्य और न करने योग्य कार्यों का विश्वलेषण किया। छठे अध्याय में आज की चरित्रहीनता का, मन बुद्धि के ऊपर उठकर आध्यात्मिक-वैज्ञानिक अर्थात् निरपेक्ष दृष्टि से देखने का, द्वन्द्वात्मक वस्तुवाद अर्थात् डायलेक्टिकल मैटीरियलिज्म का और सर्वोदय समाज में कानून बनाने की स्थिति का विवेचन किया। द्वन्द्वात्मक वस्तुवाद के विवेचन के सिलसिले में वेदान्त, बौद्ध, जैन और मार्क्स के दर्शनों का तत्संबंधी मुकाबला विनोबाजी ने बड़े साफ दिमाग से किया।

अपने द्वारा प्रस्तुत विषयों पर विनोबाजी के साथ चर्चा करने के अलावा मैं दूसरों के साथ होने वाली विनोबाजी की बातें भी कभी कभी सुन लेता हूँ। स्वामी आनंद ने अन्तर्राष्ट्रीय युद्ध के प्रश्न को लेकर चर्चा की तब विनोबाजी ने बताया कि भारत हिंसा का मुकाबला हिंसा से कर ही नहीं सकता। भारत ऐसा करने जायगा तो उसे किसी न किसी का अनुयायी बनना

पड़ेगा और तब वह अपनी स्वाधीनता की रक्षा भी नहीं कर सकेगा। अर्धवत् तो अहिंसक लोगों पर हिंसक आक्रमण हो नहीं सकता और कदाचित् हो जाय तो वह विशेष आगे बढ़ नहीं सकता। अहिंसक राष्ट्र में आक्रमणकारियों के लिए कोई प्रलोभन ही नहीं रहेगा। जेराजार्णीजी ने खादी बेचने की योजना के संबंध में विनोबाजी से विस्तृत चर्चा की। विनोबाजी ने खादी हुंडी बेचने के विरुद्ध अपना अभिप्राय प्रकट किया। उन्होंने कहा कि जिस प्रकार हम रुपया लिये बिना खादी नहीं देते वैसे ही खादी दिये बिना हमें रुपया भी नहीं लेना चाहिए। पहले से लिये हुए रुपये की खादी देने के लिये हम बाध्य होंगे तो हमें अपने खास कार्यकर्त्ताओं की शक्ति पुराने उत्पत्ति क्षेत्रों में ही लगानी पड़ेगी। हुंडी लेने वालों का संतोष उन्हें उनकी रुचि के अनुकूल कपड़ा न दे सकने के कारण हम नहीं कर सकेंगे। विनोबाजी ने खादी की शान्तिकारी भावना से इधर उधर न हटने पर जोर दिया। श्रीमती जानकीदेवी वजाज विनोबाजी के साथ घूमती हुई कूपदान का काम बड़े उत्साह के साथ कर रही हैं और प्रत्येक चर्चा में रस लेती हैं।

मैं बिहार में आया हुआ हूँ तो इधर वाले राजस्थानी भाइयों से भी अनायास ही थोड़ा बहुत संपर्क हो ही जाता है। मुझे लगता है कि उन लोगों के लिए अधिकाधिक आवश्यक होता जा रहा है कि वे जहाँ रहते हैं वहीं के रहने वाले अपने आपको मानें। राजस्थान का मूल संबंध होने के कारण उधर की बातों में भी उनकी दिलचस्पी होना स्वाभाविक है, पर जहाँ तक मैं सोच सकता हूँ वह दिलचस्पी दूसरे नंबर की ही हो सकती है। कोई भाई इधर से अपना ध्यान हटाकर अथवा उसे गौण बनाकर मुख्यतया राजस्थान में ही काम करने का विचार करते हों तो वह बात दूसरी है। रघुनाथपुर के किंगोर संघ में मैंने उपस्थित भाइयों से यही अनुरोध किया वे अपने पास पड़ोस के सार्वजनिक, सामाजिक, राजनैतिक जीवन में स्वतंत्र देश के नागरिकों की हैसियत से पूरा हिस्सा लें। पुरुलिया के राजस्थानियों द्वारा स्थापित व्यायाम-शाला देखकर मेरा चित्त प्रसन्न हुआ। पुरुलिया में अच्छी जागृति है। मैंने पुरुलिया वालों को बताया कि राजस्थान के लोगों ने कठोर कठिनाइयों ने

टक्कर लेकर दूर दूर के प्रदेशों में अपना स्थान बनाया और उन्होंने किसी को ठग नहीं लिया है। अब वह समय आ गया है कि वे किसी प्रकार का भेदभाव न रखते हुए दूसरे भाइयों के साथ घुल मिलकर देशहित और समाज हित के कामों में पहले से भी ज्यादा हिस्सा बंटावें और सिद्ध कर दें कि व्यापार व्यवसाय में ही नहीं बल्कि दूसरे क्षेत्रों में भी वे किसी से भी पीछे रहने वाले नहीं हैं। आज हमारा देश हर तरह से एक है तो राजस्थान से किसी भी दूसरे प्रदेश में पहुंचे हुए भाई राजस्थान के हित के लिये कुछ कर सकते हों तो वह भी उनके लिये कर्तव्य है।

विनोबाजी के साथ

३ जनवरी को दोपहर के बाद मैं आसनसोल के कोयला क्षेत्र के एक स्थान से चलकर रानीगंज होता हुआ दामोदर नदी के उस पार मेजीयाघाट पहुंचा जहां विनोबाजी का उस दिन का पड़ाव था। पड़ाव पर एक प्रकार की धूमधाम सी देखने को मिली। ऐसा लगा कि एक टुक में नास्ते आदि की दुकान साथ चलने लगी है और दूसरी गाड़ी में डायनेमो, लाउडस्पीकर आदि भी साथ चल रहे हैं। कार्यकर्ता भी काफी संख्या में इकट्ठे हुए दिखायी दिये। श्रीमती आशादेवी आर्यनायकम् बड़ी दिलदारी के साथ देखभाल कर रही थीं। विनोबाजी के पास रानीगंज आदि स्थानों से आये हुए कुछ लोग शंका समाधान कर रहे थे। एक सज्जन कह रहे थे कि मेरी थोड़ी सी जमीन में से आप हिस्सा बंटाकर मेरे अभाव को क्यों बढ़ाना चाहते हैं? विनोबा जी ने कहा कि आपके घर पर एक सन्तान और हो जाय तो उसे आप उसका हिस्सा दो या नहीं? आप दरिद्रनारायण को अपने परिवार में बढ़ा हुआ मान लीजिए। एक दूसरे सज्जन ने पूछा कि इस प्रकार पैदल घूमने का कष्ट भेलने के बजाय घास सरकार से कानून बनवाकर भूमि समस्या का हल क्यों नहीं करवा देने?

विनोबाजी ने कहा कि आपके वोट से बनी हुई सरकार है, आप अपनी सरकार से क्यों नहीं कहते कि भूमि समस्या का हल करने के लिए कानून बना कर बाबा (विनोबा जी 'बाबा' नाम से प्रसिद्ध हो गये हैं) का गांव-गांव घूमने का कष्ट मिटा दीजिए ? विनोबाजी ने फिर बताया कि "बंगाल में कुल बरीब १॥ करोड़ एकड़ जमीन है, उसमें से सरकार कानून के जरिये से चार लाख एकड़ जमीन प्राप्त करने की आशा रखती है, पर मेरा खयाल है कि सरकार को दो एक लाख एकड़ से अधिक जमीन शायद ही मिले, इसके मुकाबिले में मैं बंगाल की १॥ करोड़ एकड़ जमीन के छठे हिस्से की २५ लाख एकड़ जमीन चाहता हूँ, मेरा विश्वास है कि उतनी जमीन बंगाल में मुझे मिलेगी ।" विनोबाजी की इस दलील में बड़ा बल था । प्रार्थना सभा के स्थान पर पहुँचने पर मैंने देखा कि मंच पर एक छोटी सी संगीत मंडली जुटी हुई है । उसी मंडली ने बंगाल के मधुर संगीत के द्वारा बंगला भाषा में प्रार्थना की । प्रार्थना का अनुवाद और उसे गाने का तर्ज मुझे बहुत सुन्दर लगा । अपने प्रवचन में विनोबाजी ने कहा कि बंगाल में बहुत गुण हैं, पर यहां की दो कमियां मुझे बतायी गयी हैं— एक तो यह कि बंगाल के लोगों में व्यापारिक या हिसाबी बुद्धि कम है और दूसरे वे परिश्रम करने के अभ्यासी नहीं हैं । सभा के बाद विनोबाजी ने मुझसे राजस्थान के लेखकों के तथा जयपुर आदि शहरों की जनसंख्या के बारे में जानकारी चाही । बंगाल कांग्रेस के अध्यक्ष व मंत्री आदि से विनोबाजी ने हिसाब लगाकर २॥ हजार कार्यकर्ताओं की मांग भूदान के काम के लिए की ।

४ जनवरी को प्रातःकाल विनोबाजी की मंडली बनासूड़िया नामक स्थान के लिए रवाना हुई । मैंने पहले पहल देखा और सुना कि सड़क के दोनों ओर खड़ी हुई महिलायें अपनी जवान की खास तरह की हरकत से 'उलूलूलू' का उच्चारण कर रही हैं । पूछने से पता चला कि यह विशिष्ट अतिथियों के स्वागत के लिए मंगल-सूचक शब्द है । मेरी चर्चा का सातवां अध्याय उस दिन चला जिसमें कई एक विषय लिये गये—यथा गांधीजी जीवित रहते तो वे कांग्रेस को कैसा रूप देने की कोशिश करते, अहिंसक वृत्ति वाले कार्यकर्ता की क्या करना चाहिए, अपने यहां की पंचायत और रूस की सोवियट में क्या फर्क है,

स्त्रियों की स्थिति कैसी होनी चाहिए। रास्ते में रामधुन करने वाली और गाने बजाने वाली मंडलियां मिल रही थीं और वनासूडिया पहुँचने पर नगारे-शहनाई आदि बाघों की मतवाली ध्वनि सुनने को मिली। गांव के रास्तों में देखा कि प्रत्येक घर के बाहर महिलाएं खड़ी हैं और उन्होंने पानी और हरियाली रखा हुआ पात्र, दूध, दीप आदि स्वागत के लिए रख छोड़े हैं और वे शंख बजा रही हैं। भारतीयता के उस दृश्य को देखकर मैं मुग्ध हो गया। वनासूडिया में भूदान की सर्वप्रथम भूमि मिली थी। वहां पर बांकुड़ा जिले के सेवाभावी और लोकप्रिय स्व. गोविन्द वावू सर्वोदय का काम शुरू करने वाले थे। उस स्थान पर दोनों ओर से खुली हुई एक पर्याकुटी विनोबाजी के ठहरने के लिए बनायी गयी थी। परन्तु विनोबा जी का पास में ही दूसरे स्थान पर ठहरना तै हो गया और उस कुटिया में मेरा डेरा लगा दिया गया। ऐसा डेरा पाकर मैंने अपने आपको माग्यशाली माना। विनोबाजी ने अपने संक्षिप्त भाषण में कहा कि “हम लोग दक्षिण के हैं जिनके लिए कहा गया है कि ‘आरंभ शूराः खलु दाक्षिणात्या’—पर आप लोगों की ऐसी बात नहीं है, और आप तो अवश्य ही इस भूदान के काम को अन्त तक पूरा करके छोड़ने वाले हैं।” अपने डेरे पर पहुँचने के बाद विनोबाजी ने मुझसे राजस्थान की भाषा तथा वहां की राजनैतिक स्थिति के विषय में चर्चा की। अपने प्रार्थना प्रवचन में विनोबाजी ने कहा कि बंगाल में भक्ति का अभूतपूर्व प्रवाह चला था, पर उसमें निष्क्रियता थी जिसकी प्रतिक्रिया आतंकवाद के रूप में हुई। आतंकवाद ने निष्क्रियता को तो छोड़ दिया, पर साथ में हिंसा को अपना लिया। सभा के बाद मेरी चर्चा का आठवां अध्याय हुआ जिसमें शारीरिक शिक्षा, सैनिक शिक्षा, मुद्रा, (करेंसी) व्यक्तिगत भित्कियत, ट्रस्टीशिप आदि विषय लिये गये।

५ जनवरी को प्रातःकाल की पदयात्रा के समय मेरी चर्चा का नवां अध्याय चला जिसमें मुख्य विषय कार्यकर्त्ताओं के निर्वाह की व्यवस्था का था। अगला पड़ाव अमरकानन में हुआ जहां पर स्व. गोविन्द वावू का अत्यन्त सुन्दर आश्रम है। उस दिन की प्रार्थना सभा में पहले पास पड़ोस ने आयें हुए सज्जनों ने विनोबा जी से भूदान के विषय में कुछ प्रश्न किये जिनके उत्तर उन्होंने सभा में दिये। सभा के बाद विनोबा जी से मेरी लंबी व्यक्तिगत बात-

चीत हुई जो मेरी चर्चा का दसवां अध्याय था । ६ जनवरी की पदयात्रा में मेरी चर्चा का ग्यारहवां अध्याय चला जिसमें विनोबाजी ने भूदानमूलक ग्रामोद्योग प्रधान कार्यक्रम के साथ-साथ व्यापक लोकशिक्षण पर बड़ा जोर दिया । उस दिन का पड़ाव बिहार जुड़िया नामक स्थान पर हुआ जहां अभयाश्रम की एक शाखा है । अमर कानन और बिहार जुड़िया के स्वागत में एक नयी बात यह देखी कि एक लड़की विनोबाजी के आगे आगे एक टोंटीदार पात्र से जल छोड़ती जा रही थी । बिहार जुड़िया से विदा होने के पहले मेरी चर्चा का बारहवां अध्याय हुआ जिसका विषय, 'आत्मचिन्तन' था । चर्चा के मुख्य बारह अध्यायों के अलावा भिन्न भिन्न अवसरों पर जो अनेक चर्चाएँ हुई वे संभवतः ६ अध्यायों में विभक्त की जा सकती है । इस प्रकार विनोबा शास्त्र के १८ अध्याय समाप्त हुए जिनमें प्रतिपादित विषयों का यथाशक्ति उल्लेख मैं अपने आगामी लेखों में करूंगा ।

बीच में १ व २ जनवरी को छोड़कर २४ दिसम्बर के प्रातःकाल से लेकर ६ जनवरी के प्रातःकाल तक मैं विनोबा जी के साथ रहा जिसमें मुझे बिहार और बंगाल का दर्शन हुआ । बिहार में खुद विनोबाजी सवा दो साल का समय लगा चुके हैं और वहाँ का भूदान कार्य काफी आगे बढ़ गया है । बंगाल का कार्य अभी तक प्रारंभिक मंजिल पर ही है—पर मुझे वहाँ के आसार भी अच्छे लगे । विनोबाजी का आग्रह है कि भूदान कार्य आने वाली अहिंसक क्रान्ति का पहला कदम है, इसलिए इस कार्य में हम सबको दूसरे कामों का छोड़कर एकाग्रता के साथ सम्मिलित शक्ति लगानी चाहिए । उनका कहना है कि हमें खाने के लिए फुर्सत है तो दरिद्रनारायण को खिलाने के काम के लिए भी फुर्सत होनी ही चाहिए । विनोबाजी के सतत प्रयत्नों का गहरा असर मुझ पर पड़ा है । उन प्रयत्नों से इस देश की जनशक्ति को जागृत होना ही चाहिए जो किसी भी क्रान्ति के लिए अत्यन्त आवश्यक है । विनोबाजी के कार्यक्रम को जरूरत है पूरी लगन के साथ काम करने वाले कार्यकर्त्ताओं की ।

विनोबाजी का कार्यक्रम

बिहार और बंगाल में विनोबाजी के साथ कई दिनों तक रहकर और उनसे कई घंटों तक कई विषयों पर बातचीत करके मैं हाल ही में लौटा हूँ। मुझे पहले से मालूम था कि विनोबाजी की दृष्टि सूक्ष्म है और वे पारदृष्टा तत्त्वज्ञानी हैं। विनोबाजी आध्यात्मिक साधना के रूप में बड़ी कमाई कर चुके हैं। वे भक्तिभाव से ओतप्रोत रहते हैं और उस भाव से वे समय-समय विह्वल से होते रहते हैं। उनके पड़ोस में प्रार्थना और आस्तिकता का वातावरण बना हुआ है। विनोबाजी स्वयं पद पद पर भगवत्स्मरण करते रहते हैं और भारत के शास्त्र और तत्त्वज्ञान का हवाला देते रहते हैं। विनोबाजी की वाणी में पांडित्य होता है और उनके बोलने के तरीके में आचार्यत्व का अधिकार देखने को मिलता है। दो महापुरुषों का मुकाबला करना मुझे अनुचित लगता है। पर जो कुछ देखने मुझे से समझ में आया उस पर से मुझे इतना तो कहना चाहिए कि विनोबाजी की रीति कम भावात्मक (इमोशनल) और अधिक विज्ञानात्मक (सायंटिफिक) मालूम होती है। विनोबाजी अपने दिमाग को ग्राहक (रिसेप्टिव) अर्थात् दूसरों के सद्गुणों को देखने वाला बनाते हैं। विनोबाजीकी श्रद्धा अद्वितीय है जिसके आधार पर वे मानते हैं

कि कालपुरुष उनके कार्यक्रम के अनुकूल है और इसलिए वह अवश्य सफल होने वाला है। विनोबा जी का धैर्य और उनका सातत्य (निरन्तर काम में जुटा रहना) अद्भुत है। विनोबा जी का कहना है कि जब भगवान् सूर्य-नारायण कभी छुटी नहीं लेते तो हम कैसे एक दिन की भी छुट्टी ले सकते हैं। विनोबा जी 'ऐटमबम' के मुकाबले में अपने पास 'आतम-बम' बताते हैं और इसमें शक नहीं कि हमारा यह आत्म रूप भारतीय अस्त्र अमोघ और अजेय है। विनोबाजी की विचारधारा में परिपूर्णता और स्पष्टता है, उससे सहमत असहमत होना और उसकी सफलता के बारे में विश्वास रखना न रखना बात दूसरी है।

विनोबा जी सर्वोदय सिद्धांत को मानने वाले हैं। सर्वोदय की दृष्टि की प्रथम विशेषता यह है कि उसके अनुसार मत या बुद्धि के स्तर से ऊँचा उठकर विज्ञान कोष या शुद्ध ब्रह्म विचार के स्तर पर सोचा जाता है जिसका अर्थ यह है कि मन की क्रिया प्रतिक्रिया अर्थात् मन के विकारों से अलग रहते हुए सोचकर समाज की रचना करने की कल्पना की जाती है। सर्वोदय की दूसरी दृष्टि यह है कि आम जनता का शिक्षण होना चाहिए और उसे योग्य बनाना चाहिए और इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति के कारबार संभालने की क्षमता आनी चाहिए और किन्हीं की एवज में किन्हीं दूसरों को कारबार संभालने का ठेका नहीं लेना चाहिए। विनोबाजी के मतानुसार सर्वोदय के लिए तीन तत्व सत्य, अहिंसा और अपरिग्रह बुनियादी हैं। आध्यात्मिक विकास का आधार सत्य, सामाजिक व्यवस्था का आधार सत्य, सामाजिक व्यवस्था का आधार अहिंसा और अर्थरचना का आधार अपरिग्रह होना चाहिए। एक मात्र पाप असत्य है, बाकी हिंसा, व्यभिचार, चोरी आदि सामाजिक दोष हैं। परन्तु आजकल असत्य के मुकाबले में इन दोषों का महत्व बढ़ा हुआ है। जरूरत है सत्य का नया मूल्यांकन न होकर उसकी प्रतिष्ठा कायम होने की। अहिंसा एक सामाजिक सद्गुण है और उसके द्वारा निर्भयता का वातावरण बनता है जिससे सत्य की रक्षा होती है। जो वस्तु सबके हिस्से में न आती हो उसे लेने से इनकार करना अपरिग्रह होता है। परिग्रह से संग्रह होता है और संग्रह से अभाव होता है। अपरिग्रह वृत्ति सन्यासी और गृहस्थ सब में होनी चाहिए।

विनोबाजी के भारतीय सर्वोदय जीवन चित्र में सत्र का सम्बन्ध खेती से होना चाहिए अर्थात् सबको अपने धंधे या पेशे के अलावा कुछ समय खेती में लगाना चाहिए। किसान का धंधा खेती है, इसलिए किसान का ज्यादा समय खेती में लगेगा। खेती और अपने धंधे के अलावा प्रत्येक मनुष्य को स्त्री व पुरुष दोनों को—कुछ समय गृहकार्य में लगाना होगा। जो काम घर में हो सकें उन्हें गांव में नहीं ले जाना चाहिए और जो गांव में हो सकें उन्हें राष्ट्र में न ले जाया जाय। अन्न वस्त्र जैसी प्राथमिक आवश्यकताओं की पूर्ति घर में ही होनी चाहिए। व्यक्तिगत उत्पादन के साधनों के अलावा बाकी सब साधनों का स्वामित्व गांव का होना चाहिए या राष्ट्र का। गांव की ग्रामदनी का छठा हिस्सा गांव की व्यवस्था के लिए कर के रूप में लिया जाय और उस छठे हिस्से का बीसवां हिस्सा राष्ट्र को दिया जाय। प्रत्येक घर में से दो बालिग सदस्य लिये जाकर बड़ी ग्राम पंचायत बनायी जाय और वह पंचायत सर्व सम्मति से पांच सात या अधिक सदस्यों की एक प्रबंध समिति का चुनाव कर ले। आगे के चुनाव बहुमत से किये जा सकते हैं, पर वे होंगे परोक्ष। गांव की न्याय पंचायत अलग चुनी जायगी जिसे बड़े से बड़े मामलों का अंतिम फैसला करने का अधिकार होगा। शिक्षा प्रत्येक की होगी। १५ साल के नीचे के लड़कों और लड़कियों की वर्ग के रूप में प्रातःकाल और उससे बड़ी उम्र वालों की श्रवण मनन के द्वारा सायंकाल।

इस प्रकार ऐसे सर्वोदय समाज की स्थापना करने का उद्देश्य है जो शासन मुक्त हो या कम से कम शासन निरपेक्ष तो हो, जो अहिंसक अर्थात् दण्ड निरपेक्ष और इसलिए भयवर्जित हो, जिसकी रचना के मूल में स्वशासन और स्वावलंबन हो। ऐसे समाज में व्यक्ति के लिए विकास का पूरा और निर्बाध अवसर होगा। आजकल सारी सत्ता समाज या राष्ट्र के पास मानी जाती है उसकी ओर से क्रमशः जो सत्ता वचती जाती है वह नीचे की तरफ दी जाती है। इसके वजाय यह होना चाहिए कि व्यक्ति या परिवार के पास से बची हुई सत्ता गांव में और गांव के पास से बची हुई राष्ट्र या समाज में जाय। उस समाज में स्त्रियों का स्थान बराबरी का होगा, परन्तु वह बराबरी स्त्रियों

को पुरुषों के नीचे स्तर पर लाकर नहीं बल्कि पुरुषों को स्त्रियों के ऊँचे स्तर पर उठाकर प्राप्त होगी। देश की वर्तमान स्थिति यह है कि जनतंत्र नाम की एक पाश्चात्य वस्तु स्वीकार की हुई है, जिसमें एक सत्ता पक्ष है और दूसरा, जनतन्त्र को जीवित रखने के लिए विरोधी पक्ष। इन दोनों पक्षों से अलग एक निष्पक्ष समाज होना चाहिए जो पक्ष भावना से परे और ऊपर उठा हुआ हो। निष्पक्ष समाज सत्तापक्ष और विरोधी पक्ष दोनों के अच्छे कामों को अच्छा और बुरे कामों को बुरा बतायेगा। निष्पक्ष समाज खुद वर्तमान जनतंत्र के अंतर्गत सत्ता प्राप्त करने का प्रयत्न नहीं करेगा, क्योंकि उसका लक्ष्य शासन मुक्त समाज की रचना करना है और उसकी दृष्टि से चालू शासन का क्रमशः ह्रास होना आवश्यक है। शासन का ह्रास होना सत्तापक्ष और विरोधी पक्ष दोनों के लिए हितकर होगा। गांधीजी के 'डायनेमिक' व्यक्तित्व के बारे में पक्के तौर पर नहीं कहा जा सकता कि वे किस समय क्या करते पर जहाँ तक मालूम है गांधीजी की कल्पना कांग्रेस को इसी तरह से निष्पक्ष समाज का रूप देने की थी। उस हालत में कांग्रेस के लोग चुनाव में हिस्सा नहीं लेते और जिन कांग्रेस वालों को चुनाव के मैदान में जाना होता उन्हें कांग्रेस को छोड़कर ही जाना पड़ता।

विनोबाजी ने साम्यवाद के बजाय साम्ययोग शब्द को प्रचलित किया है। उनका कहना है कि साम्यवाद एक वाद है, एक पक्ष है, उसमें दो वर्गों में से एक वर्ग को मिटाकर दूसरे एक वर्ग को प्रतिष्ठापित करने की भावना है। साम्ययोग में वादत्व या पक्षत्व नहीं है उसमें पूर्णत्व है, उसमें दो में से एक को मिटाने की अपेक्षा दोनों का समन्वय करने की कल्पना है। साम्यवाद का भी अपना दर्शन अवश्य है। पर वह दर्शन वस्तुवादी है, उसके अनुसार एक प्रकृति (मैटर) का ही अस्तित्व है और उसी में से चेतना की सृष्टि हो जाती है। इस प्रकार मार्क्स दर्शन जड़ा-द्वैत दर्शन है। पर लेनिन ने आगे बढ़कर इतना कहा है कि चेतन है या नहीं इसका ठीक पता नहीं है और यह वैज्ञानिकों के सामने अन्वेषण करने का विषय है। मार्क्स दर्शन के विपरीत अपने दर्शन में शरीर, बाह्येन्द्रिय, अतः

करण (मन, बुद्धि) आत्मा (पिण्ड का चैतन्य) और परमात्मा (ब्रह्माण्ड का चैतन्य) यह सब कुछ है। इस मूल भूत दार्शनिक अंतर के अलावा साम्यवाद में व्यक्ति की प्रतिष्ठा नहीं है, उसे समाज के हितार्थ कुर्बान होना होता है।

साम्ययोग के अनुसार विकसित व्यक्तियों के पुंजीभाव से विकसित समाज की रचना होती है और साम्यवाद के अनुसार व्यक्ति सर्व शक्ति सम्पन्न समाज का एक पुर्जामात्र है। तीसरा अन्तर साधनों से सम्बन्ध रखता है। साम्यवाद में साधनों के हिंसात्मक अहिंसात्मक होने की कोई चिन्ता नहीं है, पर साम्ययोग में अहिंसक साधनों का पूरा आग्रह रखा जाता है। चौथा अन्तर यह है कि साम्यवाद में केन्द्रित उत्पादन और समान वितरण चाहा जाता है और साम्ययोग में मुख्यतया विकेन्द्रित उत्पादन और फिर जितनी जरूरत रह जाय उसके अनुसार समान वितरण माना गया है। पांचवें, साम्यवाद के अनुसार राज्य (स्टेट) अन्ततोगत्वा 'विदर' कर जायगा, यानी क्रमशः क्षीण हो जायगा, परन्तु आज तो राज्य या शासन को बहुत मजबूत रखने की जरूरत है। इसके खिलाफ साम्ययोगियों के लिए इस घड़ी से ही शासन का कोई महत्व नहीं है, उन्हें तो अभी से शासन निरपेक्ष रहते हुए राज्यहीन समाज की रचना के लिए अग्रसर होना है।

इस पृष्ठभूमि में विनोबाजी के भूदान यज्ञ के कार्यक्रम को देखने की आवश्यकता है। भूदान एक मात्र भूमि समस्या के हल के लिए नहीं है बल्कि वह सर्वोदय समाज रचना के लिए अवश्यम्भावी क्रांति का साधन और प्रतीक है। भारत कृषि प्रधान देश है उसमें सबको खेती के काम में हिस्सा लेना चाहिए और इसीलिए सबके पास खेती के लिए जमीन होनी चाहिए। पर इस समय किन्हीं लोगों के पास आवश्यकता से अधिक भूमि है, कई लोग हल को नहीं छूते हैं पर वे भूमि को पकड़े बैठे हैं और बहुतांश के पास न भूमि है और न खेती करने के साधन। इसलिए सबसे पहले भूमि का समान वितरण होना अनिवार्य है। यह वितरण हृदय परिवर्तन से यानी अहिंसा से यानी समझा बुझाकर जनता में पड़ोसी के प्रति सम भावना पैदा करने से होना

चाहिए । भारत में ३५ करोड़ आबादी और ३० करोड़ एकड़ खेती होने वाली जमीन है । एक बार वह ३० करोड़ एकड़ जमीन ३५ करोड़ जनता में बराबरी के हिसाब से बंट जाना चाहिए । गांव गांव में जनता चैतन्य युक्त होकर खुद ही उस जमीन का पुनर्विभाजन कर डाले । विनोबाजी प्रत्येक गांव में वहां की जमीन का छठा हिस्सा चाहते हैं और गांव के प्रत्येक भूमि वाले से दानपत्र चाहते हैं और फिर वे चाहते हैं कि किसी भी गांव में कोई एक भी परिवार बिना जमीन के न रहे । इसलिए ग्रामवासियों के लिए विनोबाजी का नारा है—“हमारे गांव में बिना जमीन कोई न रहेगा, कोई न रहेगा ।” जब इस नारे को उच्च स्वर में गाया और दुहराया जाता है तब आकाश मंडल से जनता के संकल्प की उद्घोषणा की प्रति-ध्वनि होती है । विनोबाजी की प्रेरणा से बंगाल वाले घोषित करते हैं “आमादेर ग्रामे भूमिहीन केऊ थाकवेना, थाकवेना ।” कानून के द्वारा जमीन का बंटवारा चाहने वाले लोगों से विनोबाजी कहते हैं—“मैं कब कानून बनाने वाले लोगों को रोकता हूँ ? आपके वोट से बनी सरकार से आप कहिए कि वह कानून बना दे और मेरे इस घूमने के परिश्रम को बचा दे । पर याद रखिए मैं प्रेम से जमीन का छठा हिस्सा चाहता हूँ और सरकार की जैसा कानून बनाने की ताकत है उस कानून से कहीं पच्चीसवां, पचासवां या सौवां हिस्सा ही मिले !” विनोबाजी को कहीं-कहीं पूरे गांव के गांव ही मिल गये हैं । वहां पर गांव की तमाम जमीन का ग्रामीकरण यानी बराबरी के हिसाब से बंटवारा आसानी से हो जायगा और सर्वोदय के सिद्धांत के आधार पर उन गांवों की पुनर्रचना का अवसर भी मिल जायगा । विनोबाजी का आग्रह है कि अपने देश में यदि अभाव या दारिद्र्य है तो एक बार उसी का बंटवारा हो जाय और गरीब लोग अपनी व्यक्तिगत मिल्कियत के मोहजाल से मुक्त हो जाय । फिर पूंजी का बंटवारा अपने आप हो जायगा और उत्पादन के बड़े साधन भी राष्ट्र के हो जायेंगे । जमीन की कमी को दूर करने के लिए नयी जमीन तोड़नी होगी और खेती की पैदावार की कमी की पूर्ति के लिए ग्रामोद्योगों का विस्तार करना होगा । अहिंसक क्रांति के लिए भूमिदान के इस काम को विनोबाजी सर्वोपरि और सर्वप्रथम करने योग्य मानते हैं । उनकी राय में समाज सेवा कार्यकर्त्ताओं को

अपने दूसरे सब कामों को छोड़कर इस एक ही काम में एक साथ एक दो तीन के हल्ले के साथ जुट जाना चाहिए। भूदान के कार्यकर्त्ताओं के लिए गांधी निधि का उपयोग करने में विनोबाजी को आपत्ति नहीं है पर पक्के पाये पर समाजसेवा करने वालों के जीवन निर्वाह के विषय में विनोबा जी की स्वतंत्र कल्पना है। भूमिदान यज्ञ के साथ साथ देश भर में व्यापक और गहरे लोक शिक्षण के द्वारा जनमानस को अहिंसक क्रांति और सर्वोदय समाज रचना के लिए तैयार करना चाहिए। भूमिदान मूलक, ग्रामोद्योग प्रधान अहिंसक क्रांति के लिए जीवनदान का जो मंत्र चलाया गया है उसका इसी प्रकार सर्वत्र भोंककर काम करने का अभिप्राय है।

इस जरा से लेख में विनोबाजी की विचारधारा का और उनके कार्यक्रम का संकेत मात्र ही हो सकता था और वही करने का प्रयत्न मैंने कम से कम शब्दों द्वारा किया है। अलग अलग विषयों की विशद व्याख्या अलग अलग लेखों में ही की जा सकती है। अन्त में मैं कुछ मामलों में विनोबा जी की दिलचस्प रायों को थोड़े में बता देने की इच्छा रखता हूँ। भारत का आजकाल वाला तमाम संविधान रद्द करने लायक है। समाज की वर्तमान स्थिति में जनता से पाश्चात्य पद्धति के अनुसार अपने प्रतिनिधियों का चुनाव करने के लिए कहना वैसा ही है जैसा भेड़ों को अपना गड़रिया चुनने के लिए कहना हो। आज का कांग्रेसवाद डाँवाँडोलवाद है—कांग्रेस के किन्हीं लोगों का दिन कदाचिद् सर्वोदय की तरफ हो सकता है पर ज्यादातर कांग्रेसजनों के सिर पर पाश्चात्य विचारा धारा का वरद हस्त है। विनोबाजी ने पंचदर्पण योजना की कड़ी से कड़ी आलोचना की है। विनोबाजी पुलिस स्टेट के अलावा वेलफेयर स्टेट की भी काट करते हैं। मुद्रा (करेंसी) सोने चांदी की न होकर कागज जैसी चीज की होनी चाहिये जिसकी अपनी निज की कीमत कुछ न हो और राष्ट्रीय मुद्रा को गांव में करीब-करीब नहीं जाने देना चाहिए। सर्वोदय समाज में यंत्रों का उपयोग वर्जित नहीं होगा, विनोबाजी वैज्ञानिक नायनों की वृद्धि पर हर्ष प्रकट करते हैं। व्यापारिक खादी को और सास कर खादी हुंड़ी बेचने जैसी प्रवृत्तियों को विनोबाजी खादी की मूलभावना से दूर हटा

हुआ मानते हैं। सत्याग्रह केवल निषेधक शस्त्र नहीं है वह विधेयक वस्तु भी है—भूदानयज्ञ भी एक प्रकार का सत्याग्रह है। अहिंसक समाज में बहुत थोड़ी सेना से काम चल जायगा, उसे बाहर के हिंसक आक्रमण से डरने की जरूरत नहीं होगी। पुलिस वालों की योग्यता के लिए विनोबाजी सत्पुरुष होने की कड़ी कसौटी रखना चाहते हैं। आज तो पुलिस वाला और अपराधी दोनों एक ही कोटि के होते हैं। भारत को अपने सब मसले शांति से हल करने होंगे। भारत ने हिंसक उपायों को अपनाया तो वह अपनी स्वाधीनता खो बैठेगा। हमें कम्यूनिज्म का भय नहीं मानना है, क्योंकि वह आये तो वह भी एक चीज तो है। हमें डरना है उस स्थिति से जो न आज की हो, न कम्यूनिज्म की हो और किसी चौथे ही प्रकार की असजकता हो जाय। आखिर में एक मजेदार बात बताकर मैं इस लेख को समाप्त करूंगा—विनोबा जी अलग-अलग हितों के लिए अनेक अलग-अलग संघ बनाने की टीका करते हुए बोले—“अब तो अखिल भारत ‘बापसंघ’ और अखिल भारत ‘बेटा संघ’ का बनना और बाकी है जिससे तमाम बापों के और तमाम बेटों के हितों की रक्षा हो जाय !!”

सर्वोदय सिद्धांत का व्यावहारिक रूप

सर्वोदय सिद्धांत को मानने वालों के लिए आवश्यक है कि वे अपनी मान्यताओं के अनुसार अपने आचरण को बनाने का प्रयत्न करें। जिस वान को ये मानते हैं उस पर अभी से उन्हें श्रमल शुरू करना चाहिए, किसी दूसरी स्थिति का वे इन्तजार नहीं कर सकते। 'आपुन जावे सासरे, औरन को सिख देत'—वाली कहावत सर्वोदय सिद्धांत के अनुयायियों पर लागू नहीं हो सकती। सर्वोदय सिद्धांत का आध्यात्मिक-नैतिक आधार माना गया है जिसका व्यावहारिक अर्थ में यह समझता है कि दूसरे सब लोगों में अपनी आत्मा का दर्शन करो अर्थात् 'आप देख, पर देख'। जब ऐसा किया जायगा तो राग द्वेष जैसे मन के विकारों के खेल की गुंजाइश ही नहीं रहेगी। जो सबको अपने समान और अपने को सब के समान मानेगा उसका किसमें राग और किससे द्वेष? यही स्थिति मन-बुद्धि के आगे निकल कर और ऊपर उठ कर सोचने की हो सकती है। मनुष्य के लिए यही प्रगति करने की दिशा हो सकती है और वह जाहिरा रागद्वेष में उलझा हुआ दिखायी देने पर भी चलना चाहेगा इसी प्रगति के मार्ग पर।

सत्य का रूप जैसा सोचे वैसा कहने और जैसा कहे वैसा करने में देखा जा सकता है। सत्य में सब कुछ प्रकट ही हो सकता है, इसलिए वहां छिपाने के लिए अवकाश नहीं है। जो 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' का मानने वाला है वह छिपाए तो किससे छिपाए ? अपने आप से कोई कैसे क्या छिपा सकता है ? अपना ही रूप देखने वाला किसी भी दूसरे से ज्यादा अपने लिए क्या चाह सकता है और दूसरों से पहले भी कैसे ले सकता है ? दूसरों से ज्यादा न लेने की और सबसे आखिर में लेने की इच्छा में अपरिग्रह का प्रत्यक्ष दर्शन किया जा सकता है। इसी आधार पर तमाम उपयोगी कामों का मूल्य बराबर माना जायगा, वे काम चाहे साधारण शरीरश्रम के हों अथवा बुद्धि से सम्बन्धित हों। अपने सम्मान सभी को मानने के सिद्धांत में से अहिंसा स्वतः निकल पड़ती है। मनुष्य अपने आपको बुरा नहीं मानता तो वह अपने ही समान, अपने ही रूप वाले दूसरों को कैसे बुरा मान सकता है ? वह उसके प्रति अविश्वास का भाव कैसे रख सकता है ? उनकी नीयत पर कैसे शंका कर सकता है ? उनके पीछे से उनकी बुराई कैसे कर सकता है ? उनके कामों की ध्वंसात्मक आलोचना कैसे कर सकता है ? देखने में जो कोई विपक्षी हो उसके साथ भी मित्र भाव से भिन्न कैसा भाव रख सकता है ? नभी तो 'सर्वानि भूतानि मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे' की यानी 'हमारी सभी प्राणियों को मित्र की आंख से देखने' की स्थिति उपस्थित होती है।

जब सभी मनुष्यों में हम अपने ही रूप को देखते हों, सबके प्रति हमारा मित्रभाव हो तो हम किसी का पीड़न करने की कल्पना नहीं कर सकते। दूसरों में दिखायी देने वाली बुराई हमें अपनी बुराई की प्रतिच्छाया के रूप में दिखायी देगी। तब फिर हम दूसरों को समझा-बुझा कर ही अपनी बात पर लाने की कोशिश करेंगे। समझाने बुझाने से उनके सोचने का तरीका बदलेगा, उनका हृदय-परिवर्तन हो जायगा। इसी आधार पर शिक्षा प्रणाली आयोजित होगी। फलस्वरूप वह लोकप्रिय होगी और लोकशक्ति जागृत होगी। फिर क्रांति अपने आप ही हो जायगी और वह क्रांति टिकाऊ होगी। फलस्वरूप लोक-मानस को बदले बिना परिवर्तन ऊपर से या बाहर से आरोपित कर भी

दिया जाय तो वह टिकेगा किस आधार पर ? उसकी प्रतिक्रिया तो होगी ही सही । हिंसा के बल से दवा कर, डरा कर और मारकाट करके कुछ चमत्कार जैसा दिखा भी दिया जायेगा तो उसकी विपरीत दिशा में हलचल उसी समय से हो जायगी और पहले से बड़ी हिंसा के द्वारा उस चमत्कार के स्थान पर दूसरा चमत्कार दिखा दिया जायगा । जो असहाय के सहायक बन कर हिंसा के द्वारा दमनकारी को मिटाते हैं वे खुद दमनकारी नहीं बन जायेंगे, इसकी गारंटी क्या होगी ? वे दमनकारी होंगे तो उन्हें भी हिंसा से ही मिटाना होगा । सर्वोदय सिद्धान्त को वर्ग संघर्ष की कल्पना मान्य नहीं हो सकती । सर्वोदय सिद्धान्त के अनुसार अन्याय के प्रतिकार के लिए नौ अहिंसात्मक सत्याग्रह का प्रयोग करना चाहिए । सत्याग्रही अन्याय करने वाले विपक्षी को ठीक ठिकाने लाने के लिए उसे नहीं सतायेगा, तमाम तकलीफ को खुद भेलने की तैयारी करके चलेगा । सत्याग्रह का अस्त्र अपने अधिक से अधिक प्रियजन के लिए भी उठाया जा सकता है । वास्तव में सत्याग्रही के लिए प्रिय अप्रिय कोई है ही नहीं, वह तो जिसे अन्याय समझता है उसके विरुद्ध स्वयं कष्ट भेल कर और दूसरों को कष्ट पहुँचाये बिना लड़ता है । उसके इतने सावधान रहने पर भी सामने वाले को कष्ट हो तो उसका उपाय उसके पास हो नहीं सकता । वस्तुतः सामने वाले का कष्ट भी उस सामने वाले के भले के लिए ही होगा ।

अहिंसक क्रांति को लाने वाले कौन हो सकते हैं ? अमल में क्रांति तो जागृति और जनशक्ति के द्वारा ही आयेगी । फिर भी जिनकी जाति के पुरस्कर्ता तो होना पड़ेगा । ऐसे पुरस्कर्ताओं को जिस पक्ष के हाथ में आज सत्ता है उस सत्ता पक्ष में शामिल नहीं होना होगा और जो पक्ष कल सत्ता प्राप्त करने के लिए आज प्रयत्नशील हो रहा है उस विरोधी पक्ष में भी क्रांति के पुरस्कर्ता शामिल नहीं हो सकते । कोई भी क्रांति कानून के द्वारा नहीं हो सकती, क्रांति की स्थिति को कानून के द्वारा वैधानिक रूप भले ही दिया जाता हो, वैसे ही अहिंसक क्रांति भी सत्ता या कानून द्वारा नहीं लाई जा सकती । अहिंसक क्रांति हो जाने पर केन्द्रित रूप में सत्ता रहेगी ही नहीं, इसलिए अहिंसक क्रांति करना चाहने वालों को इसी घड़ी से सत्ता निरपेक्ष होकर चमत्कार

पड़ेगा। उनके अच्छे काम में सत्ताधारी भी सहयोग दे देता हो तो वे शायद उसे अस्वीकार न करें, पर वे उस सहयोग की अपेक्षा रख कर तो नहीं चलेगे। अहिंसक क्रांतिकारी अपने आपको कड़ी कसौटी पर कसने वाले होंगे। उनके ऊपर किन्हीं आश्रितों के निर्वाह का भार नहीं होगा। वे दम्पति होंगे तो उनकी अवस्था वानप्रस्थों की सी होगी। वे अपना कुछ निर्वाह तो अपने ही श्रम के द्वारा करेंगे, कुछ सूतांजलि से प्राप्त होने वाले सूतदान से और कुछ आम जनता से मिलने वाले सम्पत्तिदान से। गांधी निधि का साधन उपलब्ध है तो उसका उपयोग कदाचित् कर लिया जाय, पर गांधी निधि या कोई भी वैसी निधि अहिंसक क्रांतिकारी के जीवन के आधार के रूप में हितकर नहीं सकती। सर्वोदय समाज व्यवस्था का एक आधार होगा स्वावलंबन और दूसरा होगा परस्परावलंबन। उसमें प्रतिस्पर्धा नहीं होगी, सबको शरीरश्रम करना होगा और सब प्रकार के श्रम का मूल्य बराबर होगा। व्यक्ति के पास जो कुछ होगा उसका, उसकी बुद्धि तक का, वह खुद मालिक न होकर समाज मालिक होगा। ऐसी हालत में सर्वोदयी समाज व्यवस्था में व्यक्तिगत मिल्कियत का सवाल ही नहीं होगा। खेती का प्रमुख स्थान होगा। खेती की पूर्ति के लिए ग्रामोद्योग का भी महत्वपूर्ण स्थान होगा। उद्योग व्यवसाय में वंश परम्परा से प्राप्त प्रतिभा का लाभ उठाया जायगा। गांव की पैदावार प्रथमतः गांव में रहेगी। बाहर जरूरत होने पर उस पैदावार का एक हिस्सा बाहर भी जा सकेगा। ग्राम की अर्थ रचना में राष्ट्रीय मुद्रा का यानी पैसे का कोई खास स्थान नहीं होगा। वहां पर वस्तुओं का मूल्य पैसे के द्वारा नहीं नापा जायगा। इस प्रकार के आर्थिक विकेन्द्रीकरण के साथ ही शासकीय सत्ता का विकेन्द्रीकरण भी होगा। वह सत्ता राष्ट्र से ग्राम में नहीं जायेगी, बल्कि ग्राम से क्रमशः बच बचा कर राष्ट्र में जायगी। चुनाव प्रणाली ऐसी होगी जिसमें गांवों में जनता की एकता नष्ट नहीं होगी और आगे चलकर भी चुनाव इस प्रकार के होंगे जिनमें पैसे का बोलबाला नहीं हो सकेगा। सर्वोदयी समाज व्यवस्था में पुलिस का कार्य उत्तम मनुष्यों के हाथ से होगा और बहुत थोड़ी फौज से काम चलाया जा सकेगा।

साम्यवाद का विश्लेषण

साम्यवाद (कम्युनिज्म) की अन्तिम कल्पना के अनुसार किसी दिन संसार भर में साम्यवादी स्थिति हो जायगी—जिसमें पूरे तौर पर वर्गहीन समाज होगा, जिसमें श्रमिकवर्ग का एक छत्र आधिपत्य स्थापित हो जायगा, जिसमें उत्पादन के साधनों की व्यक्तिगत मिल्कियत नहीं होगी, जिसमें नरपूर मात्रा में उत्पादन हो जायगा, जिसमें सबको समान साधन उपलब्ध हो जायेंगे, जिसमें मुनाफाखोरी की जरूरत और गुंजाइश नहीं होगी, जिसमें हिंसा और युद्ध के लिए अवसर नहीं होगा और जिसमें राज्य के पेचीदा तंत्र की आवश्यकता नहीं होगी। यह स्थिति आदर्श अराजकता की होगी जिसके प्राप्त होने के लिए काल की अवधि को अनिश्चित मान कर चलना होगा। उससे पहले साम्यवाद में देश काल की भिन्नता के अनुसार कई प्रकार के समझौते हो सकते हैं, यथा किसी हद तक व्यक्तिगत मिल्कियत को वर्दाश्त किया जा सकता है, साधनों के वितरण में पूंजीवादी व्यवस्था ने मिनती जुलती विषमता बनी रह सकती है, तमाम दुनियां की कल्पना को स्थगित रखते हुए राष्ट्रीयता के आधार पर चला जा सकता है, इत्यादि।

साम्यवाद के मूलभूत दर्शन में एकमात्र प्रकृति का अस्तित्व माना गया है। प्रकृति में से ही सोचने समझने वाले मन की सृष्टि होती है। इसके अलावा आत्मा को नहीं माना गया है। इसलिए साम्यवाद में आध्यात्मिकता और नैतिकता के लिए कोई स्थान नहीं है। एक प्रकार से पाप पुण्य का भेद ही नहीं है। नैतिकता वही है जिससे वर्तमान शोषण युक्त समाज का नाश करके नये साम्यवादी समाज की स्थापना में मदद मिल सके। धर्म या मजहब लोगों के लिए अफीम का काम करने वाला है। धर्म और नीतिशास्त्र के पर्दे में जनता का शोषण किया जाता है। क्रांतिकारी परिवर्तनों का क्रम पूर्व निश्चित है जिसके अनुसार वे परिवर्तन होकर ही रहेंगे। इस क्रम को बदलने की कोशिश की जायगी तो वह बेकार साबित होने वाली है। मानव विकास में एक स्थिति बनती है, फिर उसके विपरीत स्थिति बनती है, फिर दोनों स्थितियों की कमीवशी निकलने से उनका समन्वय जैसा होता है। फिर एक स्थिति समन्वित होती है और सतत परिवर्तनशीलता का यही क्रम चलता रहता है। मनुष्य के तमाम कामों की प्रेरक शक्ति आर्थिक होती है और आर्थिक हितों के पारस्परिक विरोध के कारण वर्ग संघर्ष अनिवार्य होता है।

साम्यवाद में प्रचलित मजहबों का स्थान भले ही न हो, परं खुद साम्यवाद ही एक तरह का मजहब जैसा बन जाता है। मजहब की सी कट्टरता साम्यवाद में देखने को मिल सकती है, साम्यवादी शास्त्र के पुरस्कर्ताओं के वचनों को आप्तवाक्यों से कम नहीं समझा जाता और उन का हवाला बहुत दिया जाता है। साम्यवाद में बड़ा मताग्रह है और अपने से भिन्न विचार शैलियों के विषय में सहिष्णुता साम्यवाद में नहीं पायी जाती। सबको वैसा मानना ही चाहिए और जो न माने उनकी खैर नहीं। बारीकी से देखने से मालूम होगा कि वस्तुवाद और विवेक का आग्रह रखते हुए भी साम्यवाद एक पंथ जैसा है जो भावावेश के खेलसे खाली नहीं है। साम्यवाद का अपना शास्त्र, शास्त्र के अपने द्रष्टा और अपने सन्त, एवं पंथ के अनुयायियों के लिए अपने नारे जो महावाक्यों जैसे लगेंगे। मुझे लगता है कि विश्वासों के मामले में धूम कर मानव स्वभाव उसी एक बरातल पर पहुँचता है और साम्यवादी

का स्वभाव इस सम्बन्ध में सामान्य मानव स्वभाव से बहुत भिन्न अपने आपको शायद ही साबित कर सके ।

साम्यवाद में व्यक्ति की अपेक्षा समाज का अत्यधिक महत्व माना गया है । इसी प्रकार साधन की अपेक्षा साध्य का भी ज्यादा महत्व समझा जाता है । वैसे ही विचारों की अपेक्षा परिस्थितियों का विशेष महत्व स्वीकार किया जाता है । इसका नतीजा यह मानने का होता है कि परिस्थितियाँ सब कुछ उचितानुचित करवाही लेंगी, साध्य ठीक है तो उसको प्राप्त करने के लिए किन्हीं भी साधनों का उपयोग किया जा सकता है और समाज हित के नाम पर व्यक्ति की किसी भी कुर्वानी को जा सकती है । उचित अनुचित को मानने वाले लोग भी अनुचित में प्रवृत्त होते देखे जाते हैं, पर यह तो समझा ही जायगा कि उनकी प्रवृत्ति अनुचित है । लेकिन मानने में ही उचितानुचित का भेद न हो तो वह स्थिति विल्कुल दूसरी ही बनती हैं । आज जिसके हाथ में ताकत आ गयी है वह जैसा करना चाहेगा वैसा उस ताकत के आधार पर कर डालेगा । परन्तु ताकत दूसरे के हाथ में पहुँचते ही वह भी जैसा चाहेगा वैसा करके पहले को खत्म कर देगा । मानव अपने व्यवहार में ऐसा करता आया होगा तब भी सिद्धांत रूप में ऐसी छोटी परम्परा को मान लेना मानव के भविष्य के लिए ठीक नहीं हो सकता ।

जिसने शोषण किया है, जिसने अन्याय किया है उसके प्रति विरोध का और घृणा का भाव पैदा होना आसान है । घृणा के भाव को बढ़ावा दे देना भी मुश्किल नहीं है । पर घृणा करने वालों का भी एक दल बन जायगा । आगे चल कर उस दल के भीतर भी प्रतिस्पर्धा के कारण कुछ की घृणा दूसरों के प्रति हो जायगी । अमिक वर्ग के आधिपत्य के नाम पर सही, पर प्रभुता होगी उनके हाथ में जो अपने आपको प्रतिनिधि या अगुआ की हैसियत में लेजा पायेंगे । इस प्रकार 'मुन्तजिम' लोगों का एक नया गिरोह बन ही जायगा और उस गिरोह में भी अन्दरूनी भगड़े हुए बिना नहीं रहेंगे । समाज का नियन्त्रण राज्य के हाथ में होगा । राज्य का नियन्त्रण एकाकी पाटी के हाथ में होगा और पाटी का नियन्त्रण किन्हीं पास लोगों के हाथ में होगा ।

आम लोगों के लिए तो वही नतीजा आजायगा । आम लोग बगावत न कर सकें इसका एक ओर कड़ा इन्तजाम होगा तो दूसरी ओर उनकी भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति की काम चलाऊ व्यवस्था करदी जायगी । इस दोहरा प्रबन्ध से सर्व साधारण के भाग्य पर लम्बे समय की पराधीनता की मुहर छाप लगायी जा सकती है ।

किसी भी राष्ट्र में किसी भी व्यवस्था के अनुसार राजसत्ता और उत्पादन दोनों के केन्द्रीभूत होने का जो खतरनाक नतीजा हो सकता है उसके अलावा भारत की दृष्टि से साम्यवाद के बारे में एक बात और है और वह यह है कि भारतीय साम्यवादी दल के लिए यह समझा और कहा जाता है कि उसका सूत्र संचालन किसी दूसरे स्थान से होता है । कौन जाने ऐसा है या नहीं । पर यदि ऐसा होगा तो वह और भी ज्यादा खतरनाक बात होगी । गरीबी और विषमता को दूर करने और शोषण को समाप्त करने आदि की सब बातें ठीक हैं और देशवासी अपनी-अपनी समझ के अनुसार उन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए प्रयत्नशील हो सो भी ठीक है परन्तु भारत जैसे महान् राष्ट्र का काम उसकी मौलिक प्रतिभा के अनुकूल ही होना चाहिए, न कि रूस या किसी भी पर राष्ट्र के पल्ले बंधकर । यह बात जैसे साम्यवादी वैसे ही पूंजीवादी व्यवस्था के लिए भी लागू पड़ेगी ।

पाप और दोष

विनोदजी पाप और दोषों का जो विश्लेषण करते हैं उसके अनुसार एक मात्र पाप असत्य है और बाकी व्यभिचार, चोरी, हिंसा आदि सब दोष हैं। असत्य आत्मगत पाप है, व्यभिचार आदि मनोगत (और मामाजिक) दोष हैं, और बीमारियाँ शरीरगत दोष हैं। किसी के शरीर में कोई बीमारी होती है तो उसे वह साधारणतया छिपाने की जरूरत नहीं समझता बल्कि आगे होकर उसे दूसरों को बताता है और मिटाने के उपाय खोजता और करता है। कई बार जानते हुए और समझते हुए भी ठीक उपाय करने में मनुष्य सफल नहीं होता। यथा किसी को पेट की बीमारी हो और अमुक पदार्थ न खाने की हिदायत उसे की गयी हो तब भी वह अपने आपको न रोक सकने के कारण उस पदार्थ को खा लेगा जिसका नतीजा उसकी बीमारी बढ़ने का, न ठीक होने का या देर से ठीक होने का हो जायगा। मामूली तोर पर बीमार आदमी ने नफरत नहीं की जाती, उसके साथ सहानुभूति पैदा होती है। इसी प्रकार मनोगत दोषों के कारण भी किसी से नफरत नहीं होनी चाहिए बल्कि उसके साथ सहानुभूति होनी चाहिए। कई एक चोरी करने वाले मजदूरी में चोरी

करते हैं, कई एक रिश्वत लेते पर मजबूर होकर रिश्वत लेने हैं, कई एक को प्रकृतिवशात् क्रोध आता है और वे भगड़ा कर लेते हैं और मारकाट करने तक के लिए उतारू हो जाते हैं ।

विनोबाजी सोचते हैं कि जितना बड़ा पाप असत्य है उसके हिसाब से उतना बुरा उसे नहीं माना जाता । और जो असत्य के मुकाबले में छोटे दोष हैं उन्हें बहुत महत्व दिया जाता है । जो चोरी करता है उसे चारों ओर से बुरा समझा जाता है । लेकिन जो असत्य आचरण करता है उसके लिए उतनी पर्वह नहीं की जाती । इसका परिणाम यह होता है कि चोरी करने वाले, रिश्वत लेने वाले और व्यभिचार करने वाले अपने दोषों को छिपाने की कोशिश करते हैं और जब वे सफल हो जाते हैं तो दण्ड से बचकर अपने को घन्य मानते हैं । यदि छिपाने को अर्थात् असत्य को जितना बुरा वह है उतना बुरा समझा जाता और व्यभिचार आदि दोषों को शरीरगत बीमारियों की भांति मनोगत बीमारियों के रूप में माना जाता तो दोषों को छिपाकर असत्यरूपी पाप का आचरण करना ही नहीं पड़ता । दोषों के विषय में भय का वातावरण बना हुआ है । बच्चा कोई भूल करता है और फिर वह डरता है और डर के मारे अपनी भूल को छिपाता है और वह झूठा और डरपोक बन जाता है । मनोगत दोष के कारण किसी से कोई भूल हो गई तो शरीर की बीमारी की तरह उसे भी छिपाने की क्या जरूरत है, यह वातावरण बन जाय तो लोग अपने दोषों को नहीं छिपावें । पर वस्तुस्थिति यह है कि आत्मगत पाप असत्य के मुकाबले में मनोगत दोषों चोरी, व्यभिचार आदि—को अत्यधिक महत्व दिया जाता है । इसलिए सत्य का नया मूल्यांकन होना चाहिए । बच्चों की शिक्षा का यह अंग होना चाहिए कि उनमें निर्भयता का संचार हो और वे अपने दोषों को छिपाने की तमाम फिक्र छोड़ दें । न्यायलय में भी तथाकथित दोषों के सामने यह सवाल नहीं होना चाहिए कि आप अपने आपको निर्दोष साबित करें, किन्तु यह सवाल होना चाहिए कि आप अपने जो दोष हो उन्हें खुद आगे होकर स्वीकार करें । बच्चा अपने बराबर के साथी के सामने अपना

दोष स्वीकार कर लेता है, क्योंकि उससे वह डरता नहीं है। पर वही बच्चा गुरुजनों से बहुत डरा हुआ रहता है और अपने दोष को छिपाने के लिए झूठ बोलता है। इस प्रकार डर के वातावरण के कारण बच्चे को झूठ की शिक्षा मिल जाती है।

विभिन्न देशों में अथवा एक देश के विभिन्न कालों में पाप या दोषों के कम ज्यादा होने का मुकाबला करके सही नतीजे पर पहुँचना मुश्किल है। संसार क्रमशः ठीक दिशा में प्रगति कर रहा है, इस सिद्धान्त को मानने वाले तो अवश्य यह मान सकते हैं कि पहले की अपेक्षा आज के जमाने में अहिंसा का प्रसार भी ज्यादा हुआ है। स्वयं विनोबाजी भी यह मानते मालूम होते हैं कि बुद्ध के समय में अहिंसा की जो स्थिति थी उससे आज अच्छी है। व्यभिचार के सम्बन्ध में भी विनोबाजी का यही ध्यान मालूम होता है कि वह दोष आज की अपेक्षा पहले ज्यादा था—पाश्चात्य देशों ने भी इस दोष के घटने की दिशा में प्रगति की है। इस सम्बन्ध में मतभेद की बहुत गुंजाइश है। अपने देश में तो मेरी राय में आम तौर से यही समझा जाता है कि झूठ का तथा दूसरे दोषों का बहुत विस्तार हो गया है। पठित समाज में बहुत से लोग यह मानते हुए ही नहीं मालूम होते कि यौन सम्बन्ध की अनियमितता कोई खास गड़बड़ी की बात है। यौन सम्बन्ध का मामला सामाजिक दोष होते हुए भी दो व्यक्तियों की मर्जी से सम्बन्ध रखने वाला होने से किसी हद तक व्यक्तिगत दायरे में आ जाता है। तभी तो लोग यह दलील देते हुए मुने जाते हैं कि मनुष्य का सार्वजनिक जीवन अलग चीज है जिससे उसके व्यक्तिगत जीवन की भलाई जुगुप्स का क्या सम्बन्ध? रिश्ततखोरी के बारे में भी सर्वसाधारण की तो यह धारणा है कि वह पहले की अपेक्षा बहुत ज्यादा बढ़ गयी है। दूसरे जुर्मों के बारे में भी यही समझा जाता है कि उन्हें रोकने के लिए जैसे जैसे कानून बनने जाते हैं वैसे वैसे ही जुर्म भी तरक्की करते जाते हैं।

पाप और दोषों के संशोधन की निगाह से अहिंसा के दृष्टिकोण का बड़ा महत्व है। हिंसा का वास्तव स्वरूप तो मारपीट या मारकाट में दिखाई देना

है। इस हिसाब से देखें तो गांधीजी के शांतिपूर्ण आंदोलनों के परीक्षण को बड़ी सफलता मिली। और अन्तर्राष्ट्रीय शांति को कायम रखने के लिए आज जो भारत की ओर से हिस्सा अदा किया जा रहा है वह गांधीजी की ही देन है और असल में वह भारत की और उसके द्वारा संसार की राजनीति में गांधीजी के प्रभाव को नापने का मापदण्ड है। परन्तु अहिंसा तो शांति के अलावा एक अत्यन्त सूक्ष्म तत्व ही है न? वह जीवन का एक दृष्टिकोण है जिसके अनुसार मनुष्य दूसरे की नीयत पर शंका नहीं करेगा, उसका अविश्वास नहीं करेगा, उसके संशोधन में और उसके हृदय परिवर्तन में भरोसा रखेगा, और दोषी के लिए ऊपर से और बाहर से दण्ड का विधान नहीं करेगा। अहिंसक व्यक्ति को गुणग्राहक होते हुए यह मानकर चलना होगा कि जो दोषयुक्त समझा जाता है उसमें भी उसके हिस्से के गुण मौजूद हैं और उन गुणों का विकास होना चाहिए और उनका लाभ समाज को मिलना चाहिए। सार्वजनिक जीवन में, उदाहरण के लिए कोई व्यक्ति किसी पद पर रहते हुए, अपने अमुक दोषों के जरिए अपने पद का दुरुपयोग करेगा तो उसका विरोध तो अहिंसक लोगों को भी करना पड़ेगा, पर उनके विरोध का तरीका अहिंसक होगा।

व्यक्तिगत जीवन में तो कैसे भी निभाव हो सकता है। पर बड़ी मुश्किल सार्वजनिक जीवन के सिलसिले में पैदा होती है। जब तक अहिंसा अपना वास्तविक और पूरा प्रभाव नहीं दिखा पाती, तब तक अहिंसक लोगों की उदारता और सहनशीलता का लाभ सार्वजनिक जीवन के दोषी को मिल जायेगा और जो दण्ड को मानने वाले और दण्ड देना चाहने वाले और दण्ड की शक्ति रखने वाले होंगे वे प्रायः दोषियों के दोषों को साबित न कर सकने के कारण तथा दूसरे कई लिहाजों से भी दोषियों को दण्ड देने में समर्थ नहीं होंगे। ऐसी हालत में दोष बढ़ेंगे और जब वे बहुत बढ़ जायेंगे तब उनके विरुद्ध हिंसक प्रतिक्रिया होने लगेगी। उस प्रतिक्रिया का प्ररिणाम चाहे कुछ भी हो पर उसे रोकना आसान नहीं होगा। इतना व्यापक और गहरा लोक शिक्षण हो जाय और ऐसी व्यवस्था हो जाय कि दूसरों की एवज में किन्हीं लोगों को कारवार संभालने की जरूरत कम से कम हो और अनिवार्यतया कारवार

संभालना ही पड़े तो उस स्थिति का दुरुपयोग कारखार संभालने वाले न कर सकें तब कहीं दोषियों के दोषों से जनता का वचाव हो सकता है। जब तक वह व्यवस्था नहीं आती है तब तक तो प्रयत्न चालू रहेगा और बीच के समय में अधिक पाप वाले और अधिक दोष वाले लोगों का वचाव आसानी से होता रहेगा तथा “घुरे की मौज” और “भले को कष्ट” वाली कहावत चरितार्थ होती रहेगी।

समाजसेवी कार्यकर्ताओं का निर्वाह

साधारणतया देखने में आता है कि प्राणि मात्र को अपने जीवन निर्वाह की फिक्र करनी पड़ती है। मनुष्य इस मामले में अपवाद रहा है, बल्कि उसके प्रायः आश्रित भी होते हैं। जिनके रोटी कपड़े का भार उस पर रहता है। भारतीय समाज व्यवस्था में ब्राह्मण वर्ण के लोगों के लिए ऐसी कल्पना रही है कि उनके सामने निर्वाह का प्रश्न या तो रहे ही नहीं और यदि हो तब भी वह गौण प्रश्न ही हो जिसका हल आसानी से हो जाय। इसी प्रकार वानप्रस्थ और सन्यास आश्रमों के लोगों के निर्वाह की जिम्मेदारी समाज पर मानी गयी थी। जिन लोगों को अपने तथा अपने आश्रितों के जीवन निर्वाह के लिए काम करने में शक्ति नहीं लगानी पड़ती थी वे अपना समय समाज सेवा के कामों में लगा ही सकते थे। परन्तु आज के जमाने में वर्गाश्रम व्यवस्था अपने पुराने असली रूप में कायम नहीं रह रही है। इसके अलावा रहन सहन का तरीका बदलता जा रहा है जिससे ऊपरी टीप टाप में बहुत खर्च करना पड़ता है। समाज में देखा देखी की बात ज्यादा है, इसलिए जिनके पास साधनों की कमी है वे भी साधन वालों की भांति कम से कम अपने ऊपर का रूप तो बना कर दिखाना

चाहते ही हैं। जो लोग समाज सेवा के क्षेत्र में काम करते हैं वे भी इस प्रलोभन से अपने आपको मुश्किल से ही बचा पा सकते हैं। स्वराज प्राप्ति के बाद तो निश्चय ही कार्यकर्ताओं की दुर्दशा हुई है। अर्थात् जो लोग साधन जुटा सके उन्होंने उचितानुचित उपायों से साधन जुटा कर अपना कार्यकर्तापन खो दिया, और स्वराज आने के बाद भी जिनके पास साधन नहीं आये वे साधनों के अभाव में दुःखी हो गये।

जो लोग राजनीति के क्षेत्र में कार्य करते हैं और जो सत्ताधारी दल में शामिल हैं उनके लिए तो ग्राम तौर से समझा जाता है कि वे अपने मजे में हैं। एक न एक प्रकार से सत्ता के प्रभाव से उनके पास साधन पहुँच ही जाते हैं और अपनी अपनी हैसियत के अनुसार उनका काम चल ही जाता है। उनमें जो लोग आते हैं उन्हें कमाई के लिए सहूलियत हो जाती है और जो लोग कमाने के बजाए अपने दल के काम में ही समय लगाते हैं उनका खुद का काम भी अच्छी तरह से बन ही जाता है। जो लोग विरोधी पक्ष में हैं उन्हें मुश्किल का सामना करना पड़ सकता है। विरोधी होने से उनके कमाई के कामों में विघ्न आ सकते हैं और यदि वे कमाने का काम न करें तो उनके लिए साधन जुटाना आसान काम नहीं होगा। साधनों की कमी से विरोधी दलों का काम भली भाँति नहीं चल पाता है। जिन लोगों के पास पैसा है वे अपना धन देंगे तो भी ऐसे लोगों के हाथ में देंगे जिनसे उन्हें जल्दी से जल्दी कुछ मुआवजा मिल सके। जिनके हाथ में आज सत्ता नहीं है उन्हें देकर क्यों बेकार अपना पैसा बिगाड़ा जाय। न जाने उनके पाम सत्ता आये या न आये और आये तब भी कौन जाने कब आये—और उनके हाथ में सत्ता आ जाने पर उनकी नीति अधिकतर ऐसी होने की संभावना रहेगी जिससे पैसे वालों की आज की अपेक्षा भी खैर कम होगी। कम पैसे वाले दूरन्देशी से सोचते समझते हैं। जेमे भी हैं वैसे ही वर्तमान सत्ताधारियों की मदद की जाय ताकि वे बने रहें, क्योंकि जो दूसरे बाद में आयेंगे वे अवश्य ही पैसे वालों के हक में काम करने वाले होने के बजाए उनकी जड़ काटने वाले ही होंगे। इसलिए विरोधी पक्ष में रहते हुए चालू राजनीति में हिस्सा लेने वालों के मार्ग में जोखिम होगी।

यह जो कुछ भी होगा। अपने सामने सवाल उन कार्यकर्ताओं के निर्वाह का है जो चालू राजनीति में हिस्सा लेने की पर्वाह नहीं रखते और जो अहिंसक रीति से क्रांतिकारी कार्यक्रमों में अपना जीवन लगाना चाहते हैं। इस सम्बन्ध में मेरी विनोबाजी से बात हुई थी। उनकी कल्पना यह है कि जिस प्रकार प्राचीन समय में ब्रह्मचारी विद्यास्नातक बनने के बाद व्रत स्तानक बनते थे अर्थात् अमुक समय तक समाज सेवा में अपना समय लगाते थे उसी प्रकार आज भी पढ़ाई समाप्त करने के बाद विद्यार्थियों को कुछ समय तक समाज सेवा करनी चाहिए और उनके खर्च का भार समाज को उठाना चाहिए। अपनी कमाई का धन्धा करते हुए भी गृहस्थ लोग थोड़ा बहुत योगदान समाज सेवा के काम में दे सकते हैं। जो लोग सन्यासी के रूप में हों वे भी समाज सेवा का काम कर ही सकते हैं। बाकी अधिकतर काम तो उन वानप्रस्थों द्वारा होगा जो अकेले या पत्नी सहित गृहस्थ जीवन छोड़कर सेवा कार्य में संलग्न हो जाय और जिनके जीवन निर्वाह का अधिकतर जिम्मा समाज पर हो जाय। जो लोग विनोबाजी के भूदान यज्ञ के कार्यक्रम में पूरा समय देते हैं उनके निर्वाह की व्यवस्था गांधी निधि से प्राप्त होने वाले धन से की जाती है क्योंकि एक ओर उस निधि का उपयोग भी होना ही चाहिए और दूसरी ओर जल्दी से भूदान के काम को पूरा करने की जरूरत है। इसके अलावा जो स्थायी रूप से अहिंसक क्रांति के काम में लगने वाले हों उनके जीवन निर्वाह का एक बड़ा जरिया सम्पत्तिदान होगा। अपने कार्य क्षेत्र के पास पड़ोस के लोगों से जो कुछ सम्पत्ति दान मिल जाय उससे भ्रमण करते हुए कार्य करने वाले कार्यकर्ताओं को अपने गुजर के लिए मिल जाय। आश्रम के तौर पर जम कर काम करने वाले लोग कुछ तो अपने शरीर श्रम के द्वारा कमाएं या खर्च में बचत करें। इस प्रकार शरीर श्रम से बहुत कुछ पैदा हो जायगा सो बात नहीं है, पर जितना हो जाय उतना अच्छा। दूसरा जरिया सूतांजलि का हो सकता है—अधिक से अधिक लोगों से सूत की गुंडियां प्राप्त की जाय और उनका कार्यकर्ताओं के निर्वाह के लिए उपयोग किया जाय। ग्रामवासियों से भी नकद तो नहीं पर अन्नादि के रूप में कुछ न कुछ प्राप्त किया जा सकता है। इसका फलितार्थ यह होता है कि कार्यकर्ता पर अपने अलावा दूसरे आश्रितों का भार

न हो, और अपने लिए भी उन्हें कम से कम की जरूरत हो और उन्हें जो कुछ मिले उससे वे मुख्यतया अपने खाने पीने का ही काम चलायें तथा ऊपर के दूसरे खर्च कम से कम रखें। घूम फिर के वही पुरानी बात आ जाती है। अपने लिए नहीं, अपने परिवार के लिए नहीं पर समाज सेवा के लिए अपनी जान भोंकने वाले लोग चाहिएं। ऐसे सतजुगी कार्यकर्ता अधिक से अधिक तादाद में हों, गांव गांव में हों तब कामचले। आज का वातावरण इस भावना के अनुकूल नहीं है और सारी परिस्थिति कटिन है तब भी ऐसे लोगों का अभाव नहीं है और देश में नया वातावरण बने तो उनकी संख्या बढ़ने की आशा की जा सकती है। केवल शरीर श्रम के द्वारा ही कोई अपना निर्वाह करना चाहे तो अब्बल तो वह मुश्किल होगा, दूसरा सेवा कार्य के लिए समय कम मिलेगा। इसलिए जितना बने उतना शरीर श्रम करते हुए दूसरे जरूरतों से भी काम चलाना पड़ेगा। भूदान के अलावा दूसरे किसी काम की एवज में किसी निधि से निर्वाह व्यय लेने की सूरत में उसकी उचित मर्यादा निर्धारित करनी होगी और जहां तक संभव हो सभी कार्यकर्ताओं को अपने रहन सहन का तरीका ऐसा बना लेना होगा जिसमें पास पड़ोस के लोगों की अपेक्षा तथा आपस में भी विशेष अन्तर न रहने पाए। मध्यम वर्ग से आने वाले कार्यकर्ताओं के लिए यह जरा मुश्किल तो होगा पर उन्हें भी करना पड़ेगा यही। जो कार्यकर्ता गांवों में से उठें उन्हें हरगिज भी अपने खर्च के स्तर को नहीं बढ़ने देना चाहिए।

भूमिदान कार्यक्रम का तत्व

इधर-उधर से जितनी बातें मुझे सुनने को मिलती रहीं हैं उन पर से मुझे लगता है कि बहुतों से लोगों के मन में भूमिदान कार्यक्रम के प्रति एक प्रकार की अश्रद्धा सी है। साधारणतया लोग ऊपर-ऊपर से देखते हैं और उसी पर से अपने खयालात बनाते हैं। वर्तमान सत्ताधारी दल के कामों से बहुधा असंतोष है। साथ में लोग यह भी महसूस करते हैं कि उस दल से बेहतर नतीजा दिखा सकने वाला दूसरा दल कोई नहीं है। कुछ उग्र विचार वाले कुछ जल्दी से कायापलट कर डालना चाहने वाले कुछ सताये हुए कुछ साधन-सम्पन्न लोगों को वर्दाश न कर सकने वाले साम्यवाद की तरफ झुकते हुए दिखायी देते हैं। साम्यवाद के नारे में किसान के राज, मजदूर के राज, आज के गरीब के राज की बात होने से एक प्रकार का आकर्षण है? और सहज स्वभाव से यह कल्पना होती है कि जिस तरह रूस, चीन जैसे देशों में हो गया वैसे अपने यहां भी क्यों न हो जाय? रूस में चीन में जो बहुत कुछ हो गया बताते हैं वह सब ज्यों का त्यों सही हो तब भी यह सोचने समझने की बात है कि वहां पर समय कितना लगा, किन-किन उपायों से काम लेना पड़ा, आखिर कितनी कितनी कीमत चुकानी पड़ी? आज कांग्रेस की ओर से

समाजवादी व्यवस्था की बात की जाती है उसके प्रति लोगों की आस्था हो तो नहीं दिखाई दे रहा है, बल्कि यही समझा और कहा जाता है कि कांग्रेस पूंजीवाद के साथ जुड़ी हुई है तथा कांग्रेस का जनतंत्र पश्चिम से नकल किया हुआ वही जनतंत्र है, जिसमें पूंजी की प्रधानता है और जिसमें अवश्य बने रहने वाले असंख्य साधनहीनों के लिए कोई राजमार्ग नहीं खुला हुआ है। यह परिस्थिति साम्यवादियों को किसी हद तक मदद पहुंचाते वाली बन जाती है।

भली भांति देखा जाय तो भूमिदान कार्यक्रम में एक और साम्यवादी कार्यक्रम के संभावित दुष्परिणामों से बचाने वाला तथा दूसरी ओर कांग्रेस कार्यक्रम से जो नहीं हो रहा है उसे काट डालने वाला एक मौलिक उपक्रम है। सर्वोदय समाज व्यवस्था में यह माना हुआ है कि यथा-संभव तमाम जनता का संबंध खेती में जो कमी रहे उसे ग्रामोद्योग और गृह-उद्योग के विस्तार से पूरी करनी चाहिए। बड़े पैमाने के आवश्यक उद्योगों के अभाव की तथा मशीन के बहिष्कार की कल्पना सर्वोदय अर्थ-व्यवस्था में नहीं है। जिस हद तक आर्थिक विकेंद्रीकरण जा सकता है, उस हद तक उसे ले जाना चाहिए और श्रमिक का किसी दूसरे के द्वारा शोषण न हो इसका ध्यान रखते हुए मशीन और विजली का स्वागत भी गांव में हो और गांव के उद्योग में होना ही चाहिए। सर्वोदय व्यवस्था में सबसे पहले जरूरी और सबसे बड़ा सवाल जमीन के वंटवारे का हो जाता है जो जमीन है उसका वाजिव घटवारा हो जाय जिससे गांव में कोई भी बेजमीन न रहे। एक गांव में जमीन की कमी हो और दूसरे में जमीन कुछ ज्यादा हो तो उधर से ली जा सकती है। तमाम देश में जरूरत के मुकाबले में जमीन कम है तो नयी जमीन को खेती के लायक बनाना होगा। इस भूमिमूलक कार्यक्रम में ग्रामोद्योग की भी प्रधानता होगी, क्योंकि केवल खेती से सब कुछ नहीं हो जाने वाला है। फिर ये तमाम बातें अहिंसक रीति से अर्थात् मारकाट के बिना, जोरजबर के बिना और आपन के प्रेम की—भाईचारे की—भावना से होनी चाहिए। मारकाट व जोरजबर की नापसन्द करने की बात तो है ही। साथ में कानून की मरण में जाने की

अनिवार्यता नहीं है। समय पर कानून से जो मदद मिल सकती है वह तो ली जा सकती है।

लोगों का कहना है कि कहीं मांगने, दान चाहने, दान लेने और दान देने से जमीन का मसला हल हुआ है ? कोई भले आदमी किन्हीं जमीन वालों के पास जायेंगे तो वे अपने कब्जे की जमीन में से थोड़ी बहुत खराब सी जमीन देकर अपना पिण्ड छुड़ा लेंगे। इस देश में जमीन के पहिले से ही छोटे-छोटे टुकड़े हो रहे हैं। भूमिदान कार्यक्रम से और भी टुकड़े हो जायेंगे जो आर्थिक दृष्टि से बुरी बात होगी। किसी साधनहीन को थोड़ी बहुत काम की जमीन मिल भी गयी तो वह उसका उपयोग नहीं कर सकेगा। वास्तव में ऐसी आपत्तियों के उठने की गुंजाइश नहीं है। जो दान शब्द चालू किया गया है, उसका आशय दान के प्रचलित अर्थ से भिन्न है। इस वारीक बहस में पड़े बिना यह कहा जा सकता है कि भिक्षा के तौर पर मांगने की और दान के रूप में स्वीकार करने की बात है नहीं। गांव में जितने जमीन वाले हैं उन सबसे कहा जाता है कि वे अपनी जमीन में से एक हिस्सा उन लोगों के लिए दें जिनके पास जमीन बिल्कुल नहीं है। तात्कालिक उद्देश्य यह होता है कि गांव के सब जमीन वालों से जमीन मिले और गांव में बेजमीन कोई न रहे। और साथ में यह भी कि गांव की कुल जमीन का छठा हिस्सा मिल जाय। आगे जाकर तो गांव की तमाम जमीन का ग्रामीकरण ही होना है अर्थात् गांव की जमीन गांव की होगी, किन्हीं व्यक्तियों की नहीं। छठे हिस्से का आधार यह है कि देश में खेती की कुल जमीन तीस करोड़ एकड़ ही है, जबकि जनसंख्या ३५ करोड़ है। अर्थात् एक बार ३० करोड़ एकड़ जमीन को ३५ करोड़ जनता में इस तरह बांटना है जिससे सबके पास जमीन हो जाय। जमीन वाले लोगों को बताया जाता है कि बेजमीन लोग उनके गांव में रहने वाले उनके भाई हैं और यह हो नहीं सकता कि एक भाई अपने हिस्से से ज्यादा जमीन रखकर उससे फायदा उठाता रहे और दूसरा भाई जमीन से मिलने वाले लाभ से सर्वथा वंचित हो जाय। वास्तव में जमीन किसी की है नहीं, किसी का ज्यादा जमीन पर किसी भी संयोग से कब्जा हो गया तो इससे वह जमीन

उसकी नहीं मानी जा सकती और नये जमाने में वह उसके पास रह नहीं सकती। जो चीज अपने पास रहनी नहीं चाहिए और रहने वाली है नहीं उसमें से उन लोगों को उनका हिस्सा दे ही देना चाहिए जो आइन्दा अपने हिस्से के बिना नहीं रहने वाले हैं। मानव हृदय के लिये यह प्रेम की पुकार है जिसके साथ विवेक भी लगा हुआ है। देखा गया है कि अपने देश की जनता को यह पुकार सचमुच अपील करती है। जहाँ पर भूमिदान कार्यक्रम भलीभाँति चलाया गया है वहाँ पर एक वातावरण बन गया है। लोग समझ रहे हैं कि ज्यादा जमीन किसी के पास रहने वाली नहीं है, जमीन उसी के पास रहेगी और उतनी ही रहेगी जो जितनी जमीन पर अपने हाथ से खेती करेगा। और वह जमीन खेती करने मात्र के लिए ही—मिल्कियत के बिना ही—रहेगी।

ऐसे वातावरण में आने वाली क्रांति की सूचना है। क्रांति का वातावरण छूत की तरह फैलता है। अपने यहाँ यह नारा लगाया गया कि स्वराज्य हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है, फिर यह नारा उठा कि 'अंग्रेजो भारत छोड़ो', यह आवाज उठी कि राजाशाही—नवाबशाही और जागीरदारी—जमींदारी नहीं रहेगी। क्रमशः जनमानस में ये नारे धर कर गये और अपने आप परिणाम सामने आता गया। इसी प्रकार 'बन बरती बंटकर रहेगी' का नारा भी फली-भूत होने ही वाला है। कानून की सूरत यह है कि वातावरण के बिना जो कानून बनता है वह ज्यादा कारगर नहीं होता। दूसरे, आज जैसी सरकारें बनी हुई हैं उनके द्वारा जैसा कानून बन सकता है उससे अपेक्षाकृत थोड़ी जमीन मिल सकेगी, जबकि भूमिदान कार्यक्रम की नफलता से काफी ज्यादा जमीन मिल सकती है। साबनहीन लोगों को जमीन के साथ-साथ साबन मिल सके यह भी भूमिदान कार्यक्रम से लगा हुआ एक निश्चित अंग है। देश में इस प्रकार की अहिंसक क्रांति के लिए उपयुक्त वातावरण बन जाने पर समाज का नक्शा बदलने में देर नहीं लग सकती। सवाल बैसा वातावरण बन जाने का है, उस वातावरण को बनाने वाली अहिंसक सेना का है, उस सेना को ओर से निष्ठापूर्वक क्रांति की कीमत चुकाये जाने का है। स्वतन्त्र देश में जो

संविधान मान लिया गया है उसके अनुसार राजकाज को चलाने का भी एक काम है राजकाज के संचालन में जो कमीवेशी है सो है, उसके लिए किसी को कुछ करना हो तो वह जितना हो सके करे। पूंजीवाद के स्थान में समाजवाद लाने के लिए कुछ विशेष नहीं हो रहा है तो उसके लिए भी जो गैर सरकारी प्रयत्न किया जा सकता है सो भले ही किया जाय। परन्तु भारत भूमि में अपनी प्रतिभा के अनुकूल क्रांति लाने के लिए भूमिदान के नाम से जो कार्य-क्रम चला है वह सर्वोत्तम उपाय है। वस्तुतः यही कहा जा सकता है कि अपने यहां तो “नान्यः पन्थात्म विद्यतेऽयनाय ।”

जीवन दान

हम अपने चारों ओर देखते हैं कि साधारणतया मनुष्यों की शक्ति का अधिक से अधिक उपयोग और अपने परिवारों के लिए जीवन निर्वाह के साधन जुटाने में होता है। उक्त साधनों की कोई सीमा या मर्यादा नहीं है। 'अधिकस्य अधिकं फलं' वाली बात चरितार्थ करने की कोशिश की जाती है। और इस काम के आगे किसी भी दूसरे काम के लिए फुरसत ही किसी को नहीं मिलती ! क्या करें बेचारे, जब फुरसत ही नहीं है ? आम तौर से जीवन निर्वाह के काम को अनावश्यक या निकम्मा तो नहीं कहा जा सकता। पर देखा क्या जाता है कि जैसे कम से कम परिश्रम करके अधिक से अधिक फल पाने की वृत्ति बढ़ रही हो। शरीर श्रम किये बिना, केवल अपनी शक्ति के जोर से जो ज्यादा से ज्यादा कमा ले उसी की ज्यादा से ज्यादा कामयाबी समझी जाती है और जो ईमानदार होने के कारण कम कमा सके या नुकसान में रह जाय उसे कम श्रम माना जाता है। कमाने में किस किस प्रकार के कौन कौन से उपाय काम में लिए जाय, इसकी फिक्र भी बहुत ही कम लोगों को मालूम होती है। येन केन प्रकारेण माल घर में आना चाहिए। किसी व्यक्ति के घर में माल बढ़ा कि उस व्यक्ति की कीमत और बढ़ेगी।

यह कितनों को पता होता है कि किसने किस तरीके से बहुत बड़ी कमाई कर ली, जिन्हें पता होता है उनमें से कितने इस बात का असर लेते हैं कि अमुक का कमाया हुआ वन अपवित्र साधनों के उपयोग के कारण अपवित्र है और अग्राह्य है। जिसे नौकरी करनी होगी वह नौकरी के लिए, जिसे उधार की जरूरत होगी वह उधार के लिए और जिसे चन्दा चाहिए वह चन्दे के लिये मालदार के पास पहुंच ही जायगा।

हम ऐसे लोगों को जानते हैं जो अपनी कमाई में अनुचित साधनों का उपयोग नहीं होने देते। पर उन अच्छे लोगों की प्रायः तमाम शक्ति जीवन निर्वाह के साधन जुटाने में लग जाती है, भले ही वे सरकारी नौकरी में हों या उन धन्वों में हों जिन्हें स्वतन्त्र कहा जाता है। हमारे सामने ऐसे लोग भी रहते ही आये हैं जिन्होंने कमाई का धन्धा छोड़ दिया और या तो परिवार से नाता तोड़ दिया या अपने तथा अपने आश्रितों के लिए गरीबी का जीवन सोच समझ कर जान बूझ कर अपना लिया और समाज व राष्ट्र के काम में अपने आप को लगा दिया। उस काम के निमित्त से उन्होंने कष्ट भी सहे। पर आज उनमें से बहुतों की शक्ति चुनाव आदि से सम्बन्धित राजनीति में लगती है और वही एक बड़ा भारी और फलदायी काम समझा जाता है और ऐसा लगता है कि उस काम के मुकाबले में दूसरे काम तो मानों कुछ होंगे ही नहीं। देश में जो तंत्र स्थापित हुआ है उसे चलाना कोई ग़ैर जरूरी काम तो नहीं कहा जा सकता। आखिर किन्हीं लोगों को तो उसे भी चलाना ही पड़ेगा। अलबत्ता उसमें यह फर्क तो पड़ता है कि तंत्र को चलाने वाले हाथ कैसे हैं, धुले हुए या बिना धुले? और यह भी कि तंत्र को चलाने की अवस्था में कोई व्यक्ति किस तरीके से पहुंचा है, अथवा किस तरह से और किसी भी हद तक अपने आपको तंत्र से सम्बन्धित बनाकर अनुचित लाभ उठाने के उदाहरण कम नहीं हैं और उनमें से कभी किसी को फांसी लगती हुई नहीं देखी गयी। बल्कि उन्हें सफल समझा जाता है और जहां तहां उन्हें उनकी अफलता की दाद भी दी जाती है। जिसने ऐसा नहीं किया अथवा जो ऐसा नहीं कर सका वह असफल है और इसलिए बाजार में उसके भाव में मन्दी प्रायी हुई दिखायी देगी।

आज के जमाने में विधायक या रचनात्मक प्रवृत्तियों में लगे रहने की कीमत घटी हुई लगती है। फिर भी बहुत से ऐसे लोग हैं जो किसी प्रकार की राजनीति की लालसा में फंसे बिना अपने रचनात्मक सेवाकार्य में लगे हैं। पर यह देखने को मिलता है कि रचनात्मक कामों में एक तरह की निर्जीवता भी आयी हुई है और उनका सम्बन्ध देश में आने वाली क्रांति से जुड़ा हुआ नहीं है। बहुत सारे सेवाकार्य अथवा कल्याण कार्य का जिम्मा सरकार ने उठा लिया है और वह जिम्मा बढ़ता ही जा रहा है, क्योंकि सरकार की महत्वाकांक्षा देश में कल्याणकारी राज्य स्थापित करने की है। संस्थाओं को सहायता सरकार से मिले, कार्यकर्त्ता को निर्वाह व्यय भी उसी में से मिले या किसी संचित निधि में से मिले तो मुझे लगता है कि न संस्था क्रान्तिकारिणी होगी, न कार्यकर्त्ता क्रान्तिकारी। काम संस्था और कार्यकर्त्ता दोनों का ही अच्छा हो सकता है, पर क्रान्ति तो चीज ही दूसरी है। क्रान्ति लाने वाले तो आग पर चलते हैं। तलवारों की धार पर चलते हैं। और जिनकी अहिंसक क्रान्ति की कल्पना है उनका मार्ग तो और भी कठिन है। वह खासकर इसलिए भी कि अहिंसक रीति में जाहिरा वेग नहीं दिखायी देता है और उसका तथाकथित धीमापन तेजी से चलना चाहने वालों को अखरता है। फिर अहिंसक लोगों के लिए मर्यादाएं बहुत लगी हुई होती हैं, जबकि दूसरे लोग नफरत करने और नफरत फैलाने के लिए आजाद हो सकते हैं और घुरे को उल्टा फेंकने के लिए तथा शोषक को समाप्त कर डालने के लिए कटिबद्ध दिखायी दे सकते हैं। ठंडी बात के मुकाबले में गर्म गर्म नुस्खा जोशीले काम करने वालों को सहज स्वभाव से ज्यादा खेंचता है, ऐसी प्रतीति मुझे होती है।

ऐसी परिस्थितियों में 'जीवनदान' का नारा नया न होत हुआ भी एक नया सा दिखायी देने वाला नारा लगा है। बहुत से लोग एक न एक प्रकार की साधारण सेवा प्रवृत्ति में लगे ही हुए हैं, बहुतों का किसी न किसी राजनैतिक पार्टी से सम्बन्ध चला आया है। यदि लोग ऐसी दिलचस्पियों से न छोड़ें तो मुझे जीवनदान का विशेष अर्थ नहीं लगता। उस हानत में नयी बात कुछ नहीं होती और क्रान्ति के लिए जो वातावरण बनना चाहिए वह नहीं बनता। क्रान्तिकारी सेना के लिए तो वे सैनिक चाहिए जो घर-गृहस्थी के भार से लदे

हुए न हों, जिन्हें निठल्ले परिवारों के भरण पोषण की चिन्ता न सताती हो, जिनकी निगाह में गुजारे का सवाल कोई सवाल ही न हो, जो चालू राजनीति से सर्वथा अलग हो, जिनकी किसी भी राजनैतिक पार्टी के साथ ममता न रही हो, जो किसी अच्छी से अच्छी संस्था के बंधन में भी न बंधे हुए हों और जो प्रचलित तंत्र का बहुत कुछ उपयोग करके कान्ति ले आ सकने की भ्रांति में न फंसे हों। जीवनदान कान्ति के लिए होता है, इसलिए जीवनदानी की प्रत्येक प्रवृत्ति का सीधा सम्बन्ध कान्ति से होना चाहिए। कान्ति के लिए सबसे पहला और सबसे बड़ा काम जनमानस को बदलने का है। जनमानस को बदलने के लिए प्रचार तो चाहिए, पर केवल बातों से जनमानस को बदलना मुश्किल है। भूमिदान जैसे प्रत्यक्ष कार्यक्रम के सहारे से जनमानस बड़ी तेजी से बदल सकता है। याद रहे भूमिदान कार्यक्रम का मतलब केवल किन्हीं दूसरों को दे डालना मात्र नहीं है। नाम भले ही भूमिदान जैसा सीमित ही हो, पर उसका अर्थ गांधीजी के बताये हुए और आजकल विनोबाजी चलाये हुए तथा समाज का नक्शा बदल डालने वाले उन तमाम कान्ति-कारी कार्यक्रम से है जिसका मूलतत्त्व अहिंसा अथवा हृदय परिवर्तन है। भूमि समस्या का सम्बन्ध इस देश की अधिक से अधिक जनता से है, उस समस्या का हल जल्दी से जल्दी होना चाहिए, भूमि के आधार पर ही सर्वोदय समाज की स्थापना होनी है—इसलिए भूमिदान की बात विनोबाजी को ठीक ही सूझी है। सर्वोदय के अथवा भूमिदान के कार्यक्रम में सभी का सहयोग अपेक्षित है और स्वीकार्य भी है। पर जिन्हें जीवनदानी बनना है उनकी कसीटी तो कड़ी से कड़ी होनी चाहिए। तभी जीवनदानी होने में मजा होगा, तभी जीवनदानी होने का कुछ अर्थ होगा। सर्व सेवा संघ का सदस्य चालू राजनीति से सम्बन्ध नहीं रख सकता, तो जीवनदानी भी काहे को इस या उस राजनैतिक दल के दलदल के जरा सा नजदीक भी जाय? जिस निष्पक्ष समाज के निर्माण की बात विनोबाजी करते हैं और जो ही अहिंसक कान्ति का लाने वाला हो सकता है उसमें वे ही जीवनदानी तो होंगे जिनका प्रत्येक अर्थ में सर्वस्व एकमात्र उक्त कान्ति को ला सकने वाली प्रवृत्तियों के लिए न्यौछावर हो चुका होगा?

कठिनाइयों की कल्पना

सर्वोदयी समाज व्यवस्था का एक सुन्दर और भला चित्र हमारे सामने उपस्थित है। वह ऐसी व्यवस्था होगी जिसमें मनुष्य-मनुष्य में भेद नहीं होगा, जिसमें कोई किसी से डरेगा नहीं व कोई किसी को डरायेगा नहीं, जिनमें कोई किसी को सतायेगा नहीं, जिसमें किसी पर किसी का शासन न होकर सच्चे अर्थ में स्वशासन होगा, जिसमें आर्थिक परावलम्बन न होकर स्वावलम्बन अथवा परस्परावलम्बन होगा, जिसमें किसी की दूसरों से अधिक या दूसरों के पहले पाने की इच्छा नहीं होगी, जिसमें सबकी शिक्षा होगी और वह जीवन में असम्बद्ध न होती हुई निरन्तर चलती ही रहेगी। ऐसी समाज व्यवस्था की स्थापना के लिए हमारे पास अहिंसा का सर्वोत्तम साधन मौजूद है। हम सब लोगों ने अच्छाई का दर्शन करते हुये उस अच्छाई की अपील करेंगे और बिना किसी प्रकार के जोर-जब्र के सभी सम्बन्धित लोग अपनी मूल-भूत अच्छाई के कारण अपने अपने कर्तव्य पालन करेंगे, सतत लोकनिर्धारण के द्वारा लोकमान्य में इतना प्रत्यक्ष परिवर्तन हो जायगा कि किसी पर किसी भी बात के आरोपण की आवश्यकता ही नहीं रहेगी।

इसमें कोई सन्देह नहीं है कि यह चित्र अच्छा है और उसके निर्माण का साधन भी अच्छा है। निर्माण के अहिंसक साधन के रूप में विनोबाजी का भूमिदान कार्यक्रम भी वास्तव में बहुत अच्छी चीज है। उक्त कार्यक्रम के द्वारा अत्यधिक जनता से सम्पर्क होता है तथा उसके सामने उपस्थित समस्या के हल का दर्शन होता है। अहिंसक क्रांति के लिए पूर्व वातावरण बन जाता है। परन्तु हमें सबसे पहले एक कठिनाई की कल्पना कर ही लेनी पड़ेगी। वह कठिनाई यह कि हम कहीं ऊपर-ऊपर टहनी पत्तों की सैर ही करते रहे और जड़ तक हम न पहुँचे। रचनात्मक कामों के बारे में पहले ऐसा हो चुका है और आज भी हो रहा है। खादी की मूल कल्पना जो जानते हैं उन्हें मालूम है, पर खादी का जो काम हुआ या हो रहा है वह उस मूल कल्पना के अनुरूप न था, न है, और न आगे होने के आसार दिखायी देते हैं। उलटे मुँह जैसों को तो फी रुपया कुछ आर्थिक सहायता देकर खादी की जान निकाली जाती हुई दिखाई देती है। रचनात्मक कार्यों का दूसरे स्वार्थों के लिए दुरुपयोग होता हुआ भी देखा गया है। बल्कि बहुत सा तथाकथित रचनात्मक कार्य किया ही जाता रहा है किसी दूसरे आगे आने वाले मतलब के लिए। किन्हीं गरीबों की सेवा करते हुए मालूम पड़ने वाले लोग जानते हैं कि उनको सेवा उतनी अभीष्ट नहीं है जितना उन 'सेवित' लोगों का अपने किसी काम के लिए उपयोग करना यही स्थिति भूमिदान कार्यक्रम की हो सकती है। भूमि देने वाला भूमिदान के सर्वोच्च सिद्धान्त को समझ कर ही सचमुच भूमि दे, यह जरूरी नहीं है। अलग अलग उद्देश्यों को लक्ष्य में रखते हुए भूमि दी जा सकती है, और भूमि स्वीकार करने वाले भी उसे किसी के द्वारा उन पर किये गये उपकार के रूप में मान कर स्वीकार कर सकते हैं। ऐसा हो तो मुझे लगता है कि भूमिदान कार्यक्रम निष्प्राण ही हो जायगा। भूमिदान जैसे किसी भी अहिंसक या सर्वोदय कार्यक्रम के लिए विनोबाजी जैसे सन्त का होना अनिवार्य हैं। बहुत से काम योग्य उत्तराधिकारियों के अभाव में बिगड़ते हुए देखे गये हैं। सन्त का उत्तराधिकारी संयोग से ही कोई हो जाय, बाकी साधारणतया तो यही लगता है कि सन्त का उत्तराधिकारी कोई नहीं होता। यों तो गांधीजी का उत्तराधिकार एक प्रकार से विनोबाजी को प्राप्त हुआ ही है। और वह बहुत ठीक है, पर साथ में हमें

यह भी देखना चाहिए कि दूसरी ओर गांधीजी के उत्तराधिकार की जो बात की जाती है वह वास्तव में कितनी सूनी सी बात है—जहां गांधीजी के नाम की चर्चा तो है पर उनके सिद्धान्त को चरितार्थ करने की नहीं। गांधीजी के राज-नैतिक क्षेत्र के उत्तराधिकारियों को कितना समझाने की जरूरत है कि वे गांधीजी के सिद्धान्तों के प्रतिकूल न जाकर कुछ तो उनके सिद्धान्तों के अनुकूल समाज की रचना करने के लिए भी करें।

देश में जो व्यवस्था क्रमशः होती जा रही है वह इस समय तो बहुत कुछ पूंजीवादी व्यवस्था ही है। समाजवादी व्यवस्था की बात जो अब तक चलती है वह बात से ज्यादा कब कितनी होगी, इस का कुछ पता नहीं और समाजवादी व्यवस्था का कोई नमूना सचमुच होने वाला हो तब भी वह गांधीजी की रचना की कल्पना की रचना जैसे तो शायद ही होगा। गांधीजी की या विनोबाजी की कल्पना का साम्य किसी प्रचलित समाजवादी व्यवस्था से निम्न होता हुआ हुआ नजर नहीं आता है। वर्तमान स्थिति में जो अपील निहित है उस अपील का आधार पूंजी या पैसा है और वह अपील समाज के उन अंगों को पहुँचती है जो उक्त पूंजी की सहायता पाकर अपने साथ को छोड़ देते हैं और शोषक वर्गों में शामिल हो जाते हैं। यह बड़ी भारी कठिनाई नवोदय कार्यक्रम के मार्ग में मुझे दिखायी देती है। यह कठिनाई तो वास्तव में साम्यवादी कार्यक्रम के मार्ग में भी है। साम्यवादी अपनी अपील करते ही रहें, पर वह उन लोगों पर असर नहीं करेगी जो नाम से शोषित वर्ग के होने हुए भी वर्तमान व्यवस्था से लाभ उठाने की स्थिति में पहुँच गये हैं, वास्तव में जो लोग शोषित हैं उन्हें तो अपने ही वर्ग के ऐसे लोगों के विरुद्ध भी खड़ा होना पड़ेगा और वह कम से कम इस देश के गांवों में तो आसान नहीं होगा, पहरों की और वहां के मजदूर वर्ग की बात भले ही दूसरी हो।

फिर भी साम्यवादी अपील में साधारण मनुष्य स्वभाव के लिए एक प्रकार का आकर्षण है। शोषित है उसे शोषक को दवा देने की और अपने बदला लेने की कल्पना अच्छी लगती है। जिसे आज नहीं मिल रहा है उसे यह सोचना अच्छा लगता है कि जिन्हें आज ज्यादा मिल रहा है उनकी उतना

मिलना बन्द होकर खुद कम पाने वालों को ज्यादा मिलने लग जाय। सर्वोदयी अपील ऊँची तो बहुत है, पर उसे करने वालों को बहुत ज्यादा समझने वाले होना पड़ेगा। जहाँ पर आवश्यक नैतिक असर पैदा हो जाय वहाँ पर सर्वोदयी समाज व्यवस्था का मूर्त रूप उपस्थित करने की कोशिश होनी चाहिए। बिहार में बहुत सी जमीन मिल गयी है, उसका वितरण भी हो ही जायगा, और जो बहुत कठिन काम साधन उपलब्ध करने का है वह भी कुछ न कुछ हो जाय। तब भी अपने आपसे यह जरूरी नहीं है कि बिहार में सर्वोदयी समाज व्यवस्था के तत्त्वज्ञान का प्रसार हो जाय और आगे के लिए उस व्यवस्था की रूप रेखा खिंची हुई चली जाय। जहाँ विनोबाजी पहुँचते हैं और अपनी बात कहते हैं वहाँ लोगों पर उनकी बात का असर होता हुआ लगता है। पर वह असर विनोबाजी के आगे निकल जाने के बाद और क्रमशः समय बीत जाने के बाद कितना कायम रहता होगा यह भी छान बीन करके देखने योग्य है। और इसी कारण विनोबाजी आगे ही बढ़ते जा रहे हैं। इसके बजाय अपना ध्यान बिहार की ओर घूम कर देखें कि वह व्यवस्था किस हद तक चालू की जा सकी। मुझे लगता है कि किसी एक क्षेत्र में पूरी अर्थात् विनोबाजी तक की शक्ति लगाकर एक बार देखा जाय कि यह कहाँ तक कामयाब होती है।

२५ (क)

सर्वोदय का सघन कार्यक्रम

पिछले दिनों कई प्रकार के लोगों से मेरा मिलना-जुलना हुआ और उनसे सर्वोदय कार्यक्रम के विषय में बात-चीत चली। जो लोग गांधीजी को उनके जीवनकाल में बहुत मानते थे या मानते हुए मातूम होते थे उनमें से कुछ लोग अवश्य ऐसे हैं जो आजकल गांधीजी के विचारों की हंसी उड़ाते हैं। ऐसे लोग गांधीजी के राजनैतिक प्रभाव के कारण उनसे सम्बन्ध रखते थे और उन जैसीं द्वारा आज गांधीजी के नाम का राजनैतिक दुरुपयोग किया जाता है। पश्चिम से आई हुई जनतान्त्रिक प्रणाली से ऐसे लोग प्रभावित हैं और उसमें स्पष्ट दिखायी देने वाली बुराइयों की उन्हें कोई फिक्र नहीं है, बल्कि उन बुराइयों को अनिवार्य माना जाता है। जो कोई उन बुराइयों से दूर रहना चाहेगा वह बहुत करके नाकामयाब होगा और इस लिए लोगों की राय में वह मूर्ख दिखायी देगा। इसी प्रकार अमरीका की आर्थिक समृद्धि ने भी एक तरह चकाचौंध पैदा कर रखी है और लोगों की समझ में नहीं आता कि गांधीजी की विचारधारा के अनुसार भी कोई आर्थिक योजना बनाने में लायी जा सकती है और वह जनता के लिए वास्तव में हितकर हो सकती है।

एक सज्जन ने देश के एक बड़े नेता का हवाला देते हुये कहा कि बेकारी को दूर करने के सम्बन्ध में विनोबाजी के विचारों को सुनते ही उन्होंने कह दिया कि इस प्रकार बेकारी दूर नहीं हो सकती और देश में समृद्धि नहीं लायी जा सकती। एक दूसरे सज्जन ने कहा कि जो लोग (राजनैतिक क्षेत्र में) हार जाते हैं वे विनोबाजी के पास पहुंच जाते हैं और उदाहरण के तौर पर उन्होंने देश के एक सुप्रसिद्ध नेता का नाम भी बताया। एक तीसरे सज्जन सर्वोदय कार्यक्रम में लगे हुए एक बहुत अच्छे कार्यकर्ता का नाम लेकर बोले कि वह तो समझदार आदमी था और वह कैसे इस तरह के (निकम्मे) काम में फंस गया। राजनैतिक और आर्थिक दृष्टियों से गांधीजी अथवा विनोबाजी के कार्यक्रमों को कारगर नहीं मानने के साथ-साथ अहिंसा तथा हृदय परिवर्तन के सिद्धान्त के प्रति भी ऐसे लोगों की पूरी अश्रद्धा है।

जो लोग राष्ट्रीय कार्यकर्ता माने जाते रहे हैं उनमें से अधिकांश अपनी अच्छी या बुरी राजनीति में लगे हुए हैं। चालू राजनीति का जादू छाया हुआ मालूम होता है। वह सब कुछ दिखायी देती है। जो उसमें नहीं है वह लोगों की निगाह से शायद है ही नहीं। इसके अलावा अधिकतर लोगों के लिए राजनीति व्यक्तिगत लाभ की वस्तु भी बनी हुई है। वह लाभ उचित रीति से होता है या अनुचित से इसका विचार करने की फुर्सत ही किसको है? सफलता मिल जानी चाहिए फिर तमाम कुसूर माफ हो सकते हैं। जो लोग राजनीति में सीधा हिस्सा नहीं ले रहे हैं और एक न एक प्रकार के रचनात्मक कार्य में लगे हुये हैं उनमें से बहुतों का तो राजनैतिक शोषण किया जा रहा है। किसी रचनात्मक कार्य के द्वारा कार्यकर्ता की जीविका चलती है तो वह अपना शोषण आसानी से हो जाने देता है। इसके अलावा बहुतों को तो शौक भी मालूम होता है रचनात्मक कार्य में लगे रहने पर भी नीचे दर्जे की राजनीति में टांग अड़ाते रहने का। जो रचनात्मक कार्यकर्ता अपने आपको चालू राजनीति में सचमुच दूर रख रहे होंगे उनमें से बहुतों के दिल में क्रांति की चिनगारी नहीं दिखायी देती है। वे कुछ न कुछ कार्य कर देते हैं और सिर्फ निभ रहे हैं। उनकी विशेष पूछ भी नहीं है और शायद उन्हें एक तरह

की ही भावना सता रही हो ! एकाध गहरे विचार वाले कार्यकर्त्ता से भी मेरी बात हुई । वे सर्वोदय कार्यक्रम के प्रति अटूट श्रद्धा रखते हैं, पर जिस तरह से काम चल रहा है उससे उन्हें सन्तोष नहीं हो रहा है । वे चाहते हैं कि सर्वोदय का सघन कार्यक्रम चलाया जाय और देश में सर्वोदय समाज के नमूने पेश किये जाय जिससे लोगों को पता चले कि कैसा सर्वोदय समाज हो सकता है ।

हम देख रहे हैं कि एक ओर कल्याणकारी राज्य बनाने की महत्वाकांक्षा के कारण सरकार का कार्य क्षेत्र बढ़ता ही जा रहा है और दूसरी ओर जनता अपने सभी कामों के लिए सरकार का मुंह ताकती हुई मालूम हो रही है । वर्तमान शिक्षा प्रणाली से कोई खुश नहीं है, पर जाल विद्यता जा रहा है वैसी ही शिक्षण संस्थाओं का जो पूरे तीर पर अथवा आंशिक नीति से सरकार का आश्रय पाकर ही चल सकती हैं । चिकित्सा का काम अधिक से अधिक मात्रा में सरकार के द्वारा होता है । सामान्य शासन सीधा सरकार के हाथ में है ही और न्याय का काम जिस तरह से होता है उसमें जनता का कोई हिस्सा नहीं है । स्वायत्त शासन की संस्थाओं का जो काम हो रहा है उससे जनता में स्वशासन की भावना की प्रगति नहीं हो रही है । उल्टे स्वायत्तशासन की संस्थाएं भी उसी हल्की राजनीति के अखाड़े बनते हुए नजर आ रहे हैं । जो थोड़ा बहुत भी सोचने समझने वाले लोग हैं वे इन्हीं बातों में रत हैं और जनतन्त्र के नाम पर गांवों तक में राजनैतिक दलबन्दी का जोर बढ़ रहा है । किसी भी छोटे या बड़े ग्रामीण क्षेत्र में सर्वोदय समाज की स्थापना की दृष्टि से जमने वाले कार्यकर्त्ता के सामने चालू प्रणालियों के प्रलोभन का एक पहाड़ सा दिखाई देगा । लोगों की दिलचस्पी अपने अभाव अभियोगों के विषय में है और उन अभाव अभियोगों का सम्बन्ध आ जाना है किसी न किसी सरकारी तन्त्र से ।

पठित समाज के सामने भी अभी तक सर्वोदय की रूप रेखा बहुत साफ नहीं दिखाई दे रही है । रेल, तार, डाक, सड़क, मोटर, जहाज, वायुयान, रेडियो, वायरलेस विजली के अभाव की कल्पना नहीं की जा सकती । किन्ती

न किसी प्रकार के बड़े कारखाने भी हो ही सकते हैं। मशीन को सर्वथा वर्जित करने का प्रश्न नहीं है। थोड़ी बहुत सेना भी रह सकती है। पुलिस तो होगी ही। मुद्रा (करेन्सी) के लोप की बात नहीं है। मुख्य बात तो यह माननी चाहिए कि अपनी व्यक्तिगत पूंजी के प्रभाव से एक मनुष्य दूसरों का शोषण न कर सके और जो राष्ट्रीयकरण हो वह सच्चे अर्थ में हो जिसमें कार्य करने वाले लोग वास्तव में हिस्सेदार हों। सर्वोदय समाज में भी समाजवाद के तत्व का किसी हद तक तो समावेश होगा ही। व्यक्ति के, परिवार के, गांव के स्वावलम्बन में भी सहकारिता और परस्परावलम्बन का तत्व तो रहने ही वाला है। शासन निरपेक्ष अथवा दण्ड निरपेक्ष समाज की कल्पना दूर की हो सकती है। कहा नहीं जा सकता उस मन्जिल तक पहुँचना कब होगा? पूरे तौर पर पहुँचना हो या न भी हो। वह कल्पना सुन्दर है, इसमें कोई शक नहीं। ईश्वर प्राप्ति के लक्ष्य की भांति उस कल्पना के मूर्त रूप को पाने की बात भी हो सकती है। व्यावहारिक दृष्टि रखने वाला मनुष्य उतनी उड़ान भले ही आज न भरे पर देखने की बात यह है कि इस घड़ी सर्वोदय समाज की स्थापना के मार्ग से चलना शुरू करने वाले को कैसा व्यक्ति होना चाहिए, उसे किस प्रकार जीवन-यापन करना चाहिए और उसे किन-किन कार्यकलापों में अपने आपको लगाना चाहिए। सच पूछा जाय तो मुझे यह एक प्रयोग करके देखने की बात लगती है। ऐसा कठिन प्रयोग वे ही कर सकते हैं जिनकी ताकत होगी, जिन्हें ऐसा नशा होगा, जो ऐसे मिशन के पीछे सहज स्वभाव से पागल होंगे।

२५ (ख)

सर्वोदय का सघन कार्यक्रम

पिछले लेख में मैंने सर्वोदय के सघन कार्यक्रम की एक भूमिका जैसी प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया था। जब से विनोबाजी व्यापक कार्यक्षेत्र में उतरे हैं तब से सर्वोदय कार्यक्रम में और उसे मानने वाले कार्यकर्ताओं में नयी जान आयी है। भूमिदान कार्यक्रम ने देश में एक नया वातावरण पैदा किया है, यद्यपि बहुत से लोग भूमि दान कार्यक्रम के तमाम दावों को स्वीकार नहीं करते और कुछ यह भी मानते मालूम होते हैं कि विनोबाजी को और उनके कार्यक्रम को उनके संतपन का लाभ मिल रहा है, क्योंकि भारतवासी संतों को श्रद्धा की निगाह से देखते आये हैं, पर चूंकि विनोबाजी के वाद आने वाला उन जैसा कोई सन्त दिखायी दे नहीं रहा है, इसलिए उनके कार्यक्रम उनके पीछे से ठप्प हो जायेंगे। विनोबाजी अपनी पैदल यात्रा में लगे हुए हैं और वे साधारणतया एक स्थान पर एक दिन से अधिक नहीं ठहरते हैं। मैंने देखा है कि उनकी वाणी का लोगों पर असर होता है, पर मैं इसका अनुभव नहीं कर सका कि वाद में वह असर कितना कायम रहता होगा। मैंने विनोबाजी से अगले दिन पुरी में कहा कि आप लगातार घूमते रहने के बजाय किसी क्षेत्र विशेष में बिहार या उड़ीसा में जम कर बैठे और सर्वोदय समाज

का नमूना पेश करने का यत्न करें तो कैसा रहे ? सर्वोदय के ऐसे सघन कार्यक्रम की बात विनोबाजी के ध्यान में तो है और उनकी कल्पना मालूम होती है कि देश में प्रत्येक जिले में ऐसा कार्यक्रम चलाया जाए । जहां तक मैं समझा उनका खुद का विचार एक बार सारे देश में घूम जाने का ही है, हालांकि उड़ीसा के बाद वे अपनी रफ्तार को तेज तो करने वाले हैं । वस्तुस्थिति यह है इस कार्यक्रम के लिए जैसे कार्यकर्ता चाहिए वैसे कार्यकर्ता बहुत ही कम हैं और जो हैं उन्होंने भी अपने आपको अनेक धन्वों में लगा दिया है जिससे उनकी शक्ति बिखर जाती है और वे भी कभी तो अच्छे से दिखाई देने वाले ऐसे कामों में लग जाते हैं जिनसे उन जैसे कार्यकर्ता दूर रहते तो ही भला होता ।

मेरी कल्पना में जो कार्यकर्ता बना है उसे अहिंसा तत्व का अभ्यासी होना चाहिए । मुझे तो बुद्धि से अहिंसा तत्व को समझने में ही कमी दिखायी दे रही है फिर उस तत्व को अपने जीवन में उतारने की बात तो बहुत ही कठिन होनी चाहिए । उक्त कार्यकर्ता की एक मात्र दिलचस्पी अपने इस एक ही कार्यक्रम में होनी चाहिए और उसे अपने क्षेत्र में गड़ जाना चाहिए । दुनिया की किसी भी दूसरी चीज में उस कार्यकर्ता के चित्त को खेंच लेने का सामर्थ्य नहीं होना चाहिए । उस कार्यकर्ता के ऊपर किन्हीं ऐसे दूसरे लोगों के निर्वाह का भार नहीं होना चाहिए जो उसके काम में सहयोग नहीं दे रहे हों । और जहां तक मैं सोच समझ पाया हूँ मुझे लगता है उस कार्यकर्ता को अपने निर्वाह के लिए किसी भी बाहर के जरिये पर आश्रित नहीं होना चाहिए । यहां तक कि इस दृष्टि से मुझे तो गांधी निधि का पैसा भी अग्राह्य लगता रहा है । विनोबाजी को मैंने अपना यह भाव बताया तो वे बोले कि मैं गांधीनिधि को श्राद्ध का अन्न कहता आया हूँ और अपने यहां श्राद्ध का अन्न अग्राह्य माना ही जाता है । विनोबाजी की इस बात से मेरा बड़ा समाधान हुआ । पर इसका यह मतलब तो नहीं है कि गांधी निधि की सहायता के बिना विनोबाजी का सारा कार्यक्रम ही चलाया जा सकता हो । मेरा कहना इतना ही है कि सघन कार्यक्रम में लगने वाला कार्यकर्ता अपने क्षेत्र के बाहर की सहायता को चाहे वह गांधीनिधि से मिलने वाली सहायता ही क्यों न हो—स्वीकार न करे

वह कार्यकर्त्ता अपने शरीरश्रम से कुछ उपार्जन कर सकता है, पर उपार्जन अवश्य ही बहुत थोड़ा होगा। बाकी उसे क्षेत्र के लोगों पर ही निर्भर रहना पड़ेगा। उनसे वह अनाज आदि के रूप में सहायता स्वीकार करे या भले ही नकद के रूप में ही स्वीकार करले। उसे अपना निर्वाह कम से कम में तो करना ही चाहिए। बाहर का मनुष्य गांव में जाता है तो उसकी कुछ उपाधियां और व्याधियां उसके साथ ही वहां पर पहुंच जाती है। गांव वाले उसे अपने जैसा एक मानने को तैयार नहीं होते। और वह खुद भी अनजाने में कदाचित् पथ भ्रष्ट हो सकता है। इस बड़े खतरे से कार्यकर्त्ता अपने आपको बचा सके तभी काम ठीक हो।

सर्वोदय क्रान्ति का तत्त्व यह है कि जनता शासन निरपेक्षता का अगली सबक सीखे। देश में जनतंत्र के नाम पर एक शासन चल रहा है उस हालत में शासन निरपेक्षता या सच्चे अर्थ में स्वशासन का अमल किसी एक क्षेत्र में चालू करवा देना एक बार तो असम्भव जैसा लग सकता है। शासन तंत्र कांग्रेस के हाथ में है तब भी सहसा भरोसा होता मुश्किल है कि ऐसे प्रयत्नों में अधिकारियों का सहयोग हो सकता है। भूमिदान कार्यक्रम के मामले में ही एक राज्य में ऐसा रुख अपनाया गया जिससे भूमि सम्बन्धी काम बाहर के किन्हीं लोगों के जरिये न होकर शासन तंत्र के जरिये से ही हो। गांधीजी के शिष्य हों तब क्या, हैं तो शासक—और शायद वे भी जो अंग्रेजों के फौलादी चौखटे के उत्तराधिकारी होने से तत्समान व्यवहार में अपनी विशेषता मानते हों। मेरी कल्पना का प्रयोग क्षेत्र अधिक से अधिक एक जिले जितना बड़ा माना जा सकता है, और उसमें भी जो काम होगा वह तो कहीं भी शुरू होकर क्रमशः आगे बढ़ेगा। ग्रामवासी तमाम व्यवस्था या प्रबन्ध का तमाम न्याय का, तमाम अर्थ योजना का भार अपने ऊपर लेंगे। एक व्यवस्था पंचायत होगी जो गांव के प्रत्येक घर में से लिए हुए दो दो व्यक्तियों की बड़ी पंचायत के द्वारा एकमत से चुनी जायगा। उस पंचायत को ग्रामवासी स्वेच्छा से कुछ भेट करेगे जिससे उसका खर्चा चलेगा। वह पंचायत तमाम आवश्यक प्रबन्ध—रक्षा का, शिक्षा का, चिकित्सा का—करायगी। वह प्रबन्ध ऐसा होता जायगा जिसमें चानू

शासनतंत्र की आवश्यकता कम होती जायगी। खेती, खादी और ग्रामोद्योग के आधार पर स्वावलम्बन की अर्थ योजना बनायी व लागू की जायगी। जमीन का बंटवारा ग्रामीकरण के आधार पर कर ही लिया जायगा। न्याय के लिए अलग पंचायत चुनली जायगी और यह पंचायत तमाम न्याय के लिए जिम्मेदार होती चली जायगी, यहां तक कि लोगों की मौजूदा न्यायालयों में जाने की जरूरत ही नहीं रहेगी। ऐसा चित्र बनता है कि वर्तमान शासन तंत्र का अस्तित्व जैसे लुप्त होता चला जाय और उसके स्थान में वास्तविक स्वशासन का आविर्भाव होता जाय। जो परिस्थितियां हैं उनमें प्रतिद्वंद्विता का सामना करना पड़ सकता है और सबसे बड़ी कठिन समस्या राज्य कर के सम्बन्ध में उपस्थित होगी। एक जगह कर दिया जा रहा हो तो दूसरी जगह क्या दिया जाय ? और कर बन्द करने का अर्थ भगड़ा। ठीक इसी लाइन पर तो नहीं, पर शासन तंत्र का अस्तित्व भुला कर ग्राम रचना का प्रयोग पहले भी हम कर चुके हैं। उस प्रयोग के फलस्वरूप हमने अनुभव किया था कि चारों ओर रेगिस्तान होते हुए उसके बीच में थोड़ी सी हरियाली बनाने जैसा एक कठिन प्रयास हुआ। आसपास के वातावरण का दबाव बराबर पड़ता रहा और अन्त में उसने हमारे बनाये हुए वातावरण को अपने पेट में रख लिया। उस और उस जैसे दूसरे प्रयोगों के अनुभवों का ध्यान में रखते हुए, जिसकी नयी रोशनी बाद में गांधी जी से और विनोबाजी से मिली है उससे अपना रास्ता देखते खोजते हुए विदेशी शासन में मुक्ति मिलने से जो अनूकूलता प्रतिकूलता ऐसे प्रयोग के लिए देश में प्राप्त हुई है उसका खयाल रखते हुए सर्वोदय समाज की स्थापना के मार्ग में ऐसे सघन कामक्रम को ले कर चलने का समय तो आ गया है। जरूरत चलने वालों की है जो अपना सब कुछ भोंक कर इस पुण्य के लिए कटिबद्ध हो जाय और भगवान का नाम लेकर चल पड़े।

